अभिनवगुप्त और शैवदर्शन का पुनरोदय

जवाहरलाल कौल

अभिनवगुप्त
और
शैव-दर्शन का पुनरोदय

जवाहरलाल कौल

जम्मू—कश्मीर अध्ययन केन्द्र
प्रवासी भवन, 50, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग नयी दिल्ली —02
दूरभाष: 011—23213039

अभिनवगुप्त और शैव.दर्शन का पुनरोदय

प्रथम संस्करण : दिसम्बर 2015

मूल्य : 20 रुपये

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रण : प्रगति क्रिऐशन्स् दिल्ली –95

प्रकाशक :

जम्मू–कश्मीर अध्ययन केन्द्र

प्रवासी भवन, 50, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग

नयी दिल्ली

दूरभाष न. 011–23213039

वेबसाइट : www.jkstudycentre.org

प्रस्तावना

भारत की ज्ञान–परंपरा में आचार्य अभिनवगुप्त एवं कश्मीर की स्थिति को एक 'सङ्गम–तीर्थ' के रूपक से बताया जा सकता है। जैसे कश्मीर (शारदा देश) संपूर्ण भारत का 'सर्वज्ञ पीठ' है, वैसे ही आचार्य अभिनवगुप्त संपूर्ण भारतवर्ष की सभी ज्ञान–विधाओं एवं साधना की परंपराओं के सर्वोपरि समादृत आचार्य हैं। काश्मीर केवल शैवदर्शन की ही नहीं, अपितु बौद्ध, मीमांसक, नैयायिक, सिद्ध, तांत्रिक, सूफी आदि परंपराओं का भी संगम रहा है। आचार्य अभिनवगुप्त अद्वैत आगम एवं प्रत्यभिज्ञा–दर्शन के प्रतिनिधि आचार्य तो हैं ही, साथ ही उनमें एक से अधिक ज्ञान–विधाओं का भी समाहार है।

भारतीय ज्ञान–दर्शन में यदि कहीं कोई ग्रंथि है, कोई पूर्व पक्ष और सिद्धांत पक्ष का निष्कर्षविहीन वाद चला आ रहा है और यदि किसी ऐसे विषय पर आचार्य अभिनवगुप्त ने अपना मत प्रस्तुत किया हो तो वह 'वाद' स्वीकार करने योग्य निर्णय को प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए साहित्य में उनकी भरतमुनिकृत रस–सूत्र की व्याख्या देखी जा सकती है जिसे 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से जाना जाता है। भारतीय ज्ञान एवं साधना की अनेक धाराएँ अभिनवगुप्तपादाचार्य के विराट् व्यक्तित्व में आ मिलती हैं और एक सशक्त धारा के रूप में आगे चल पड़ती है।

आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्वज अत्रिगुप्त (8वीं शताब्दी) कन्नौज प्रांत के निवासी थे। यह समय राजा यशोवर्मन का था। अत्रिगुप्त कई शास्त्रों के विद्वान थे और शैवशासन पर उनका विशेष अधिकार था। कश्मीर नरेश ललितादित्य ने 740 ई. जब कान्यकुब्ज प्रदेश को जीतकर कश्मीर के अंतर्गत मिला लिया तो उन्होंने अत्रिगुप्त से कश्मीर में चलकर निवास की प्रार्थना की। वितस्ता (झेलम) के तट पर भगवान शितांशुमौलि (शिव) के मंदिर के सम्मुख एक विशाल भवन अत्रिगुप्त के लिये निर्मित कराया गया। इसी यशस्वी कुल में अभिनवगुप्त का जन्म लगभग 200 वर्ष बाद (950 ई.) हुआ। उनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त तथा माता का नाम विमला था जिन्हें अपने ग्रंथों में वे आदर और श्रद्धा से स्मरण करते हुए 'विमलकला' कहते हैं।

भगवान् पतञ्जलि की तरह आचार्य अभिनवगुप्त भी शेषावतार कहे

जाते हैं। शेषनाग ज्ञान–संस्कृति के रक्षक हैं। अभिनवगुप्त के ग्रंथ तंत्रालोक के टीकाकार आचार्य जयरथ ने उन्हें 'योगिनीभू' कहा है। इस रूप में तो वे स्वयं ही शिव के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के ज्ञान की प्रामाणिकता इस संदर्भ में है कि उन्होंने अपने काल के मूर्धन्य आचार्यों–गुरुओं से ज्ञान की कई विधाओं में शिक्षा–दीक्षा ली थी। उनके पितृवर श्री नरसिंहगुप्त उनके व्याकरण के गुरु थे। इसी प्रकार लक्ष्मणगुप्त प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के तथा शंभुनाथ (जालंधर पीठ) उनके कौल–संप्रदाय के साधना के गुरु थे। उन्होंने अपने ग्रंथों में अपने नौ गुरुओं का सादर उल्लेख किया है। भारतवर्ष के किसी एक आचार्य में विविध ज्ञान विधाओं का समाहार मिलना दुर्लभ है। यही स्थिति शारदा क्षेत्र कश्मीर की भी है। इस अकेले क्षेत्र से जितने आचार्य हुए हैं उतने देश के किसी अन्य क्षेत्र से नहीं हुए।

जैसी गौरवशाली आचार्य अभिनवगुप्त की गुरु परम्परा रही है वैसी ही उनकी शिष्य परंपरा भी है। उनके प्रमुख शिष्यों में क्षेमराज , क्षेमेन्द्र एवं मधुराजयोगी हैं। यही परंपरा सुभटदत्त (12वीं शताब्दी) जयरथ, शोभाकर–गुप्त, महेश्वरानन्द (12वीं शताब्दी), भास्कर कंठ (18वीं शताब्दी) प्रभृति आचार्यों से होती हुई स्वामी लक्ष्मण जू तक आती है। दुर्भाग्यवश यह विशद एवं अमूल्य ज्ञान राशि इतिहास के घटनाक्रमों में धीरे–धीरे हाशिये पर चली गई। यह केवल काश्मीर के घटनाक्रमों के कारण नहीं हुआ।

चौदहवीं शताब्दी के अद्वैत वेदान्त के आचार्य सायण –माधव (माधवाचार्य) ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सर्वदर्शन सङ्ग्रह' में सोलह दार्शनिक परम्पराओं का विवेचन शांकर–वेदांत की दृष्टि से किया है। आधुनिक विश्वविद्यालयी पद्धति केवल षड्दर्शन तक ही भारतीय दर्शन का विस्तार मानती है और इन्हे ही आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन के द्वन्द्व–युद्ध के रूप में प्रस्तुत करती है। आगमोक्त दार्शनिक परम्पराएँ जिनमें शैव, शाक्त, पांचरात्र आदि हैं, वे कहीं विस्मृत होते चले गए। आज कश्मीर में कुछ एक कश्मीरी पंडित परिवारों को छोड़ दें, तो अभिनवगुप्त के नाम से भी लोग अपरिचित हैं। भारत को छोड़ पूरे विश्व में अभिनवगुप्त और काश्मीर दर्शन का अध्यापन आधुनिक काल में होता रहा है लेकिन कश्मीर विश्वविद्यालय में, उनके अपने वास–स्थान में उनकी अपनी उपलब्धियों को संजोनेवाला कोई नहीं है। कश्मीरी

आचार्यों के अवदान के बिना भारतीय ज्ञान परंपरा का अध्ययन अपूर्ण और भ्रामक सिद्ध होगा। ऐसे कश्मीर और उनकी ज्ञान परंपरा के प्रति अज्ञान और उदासीनता कहीं से भी श्रेयस्कर नहीं है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने सुदीर्घ जीवन को केवल तीन महत् लक्ष्यों के लिए समर्पित कर दिया–शिवभक्ति, ग्रंथ निर्माण एवं अध्यापन। उनके द्वारा रचित 42 ग्रंथ बताए जाते हैं, इनमें से केवल 20–22 ही उपलब्ध हो पाए हैं। शताधिक ऐसे आगम ग्रंथ हैं, जिनका उल्लेख–उद्धरण उनके ग्रंथों में तो है, लेकिन अब वे लुप्तप्राय हैं। अभिनवगुप्त के ग्रंथों की पांडुलिपियां दक्षिण में प्राप्त होती रही हैं, विशेषकर केरल राज्य में। उनके ग्रंथ संपूर्ण प्राचीन भारतवर्ष में आदर के साथ पढ़ाये जाते रहे थे। 70 वर्ष की अवस्था में जब उन्होंने महाप्रयाण किया तब उनके 10 हजार शिष्य कश्मीर में थे। श्रीनगर से गुलमर्ग जाने वाले मार्ग पर स्थित भैरव गुफा में प्रवेश कर उन्होंने सशरीर महाप्रयाण किया। वह गुफा भी आज उपेक्षित है और इसका अस्तित्व संरक्षित नहीं है। कश्मीर के महादेवगिरि के जिन शिखरों पर अवतरित होकर स्वयं भगवान शिव ने आगमों का उपदेश किया, वे धवल शिखर संपूर्ण देश से आज भी अपनी प्रत्यभिज्ञा की आशा रखते हैं। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है, स्वयं को विस्मृति के आवरणों से मुक्त कर स्वरूप को जानना, शिवोहं की प्रतीति। त्रिक अथवा प्रत्यभिज्ञा जैसे दर्शन की पुण्यभूमि है कश्मीर। यही 'प्रत्यभिज्ञा' प्रकारान्तर से वर्तमान में हमारे देश का सबसे प्रासांगिक जीवन–दर्शन होना चाहिए। भारत नाम की सार्थकता अपनी शक्तियों के 'प्रत्यभिज्ञान' के बिना संभव नहीं है। यह प्रत्यभिज्ञान देश की दिशा एवं दशा दोनों के लिए अपरिहार्य है।

प्रस्तुत पुस्तक में पाठकों की सुविधा के लिए तथ्यों को सहेज कर सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जिससे देश के जनसामान्य तक आचार्य अभिनवगुप्त के संदर्भ में यह जानकारी सहज रूप से पहुंचाई जा सके। इस कार्य में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. रजनीश मिश्र का महती योगदान है जिसका उल्लेख आवश्यक है। अन्य अनेक बन्धुओं के सहयोग से यह कार्य सम्मपन्न हो सका है जिनके किये मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

जवाहरलाल कौल

महासिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त व्यक्तित्व

प्रभावान दक्षिणमूर्ति (अभिनवगुप्त) जो साक्षात शिव के ही अवतार हैं हमारी रक्षा करें! अपनी करुणा के कारण ही वे एक नया शरीर धारण करके काश्मीर भूमि में अवतरित हुए हैं। वे सुनहरे अंगूरों की वाटिका के बीच एक मण्डप में विराजमान हैं, जो रत्नजड़ित है और जिसके भीतर सुंदर कलाकृतियाँ लगी हुई हैं। मण्डप में चारों ओर फूलों, अगरबत्तियों और प्रज्चलित दीपकों की सुगंध फैली है। इसकी दीवारों पर चंदन का लेप लगा हुआ है। गीत-संगीत और नृत्य से कक्ष गूंज रहा है।

चारों ओर योगिनियाँ, ज्ञानीजनों और चमत्कारिक शक्ति वाले सिद्धों की भीड़ है। स्वर्ण और रत्नजड़ित आसन के ऊपर एक चांदनी छाई है। अभिनवगुप्त के सामने उनके कई शिष्य बैठे हैं, जो उनका हर शब्द लिखने को आतुर हैं। इनमें सबसे प्रमुख क्षेमराज हैं। अभिनवगुप्त आध्यात्मिक आनंद की अवस्था में हैं और उनकी आंखों की पुतलियाँ उल्लास के कारण नाच रही हैं। उनके माथे के बीच भस्म का तिलक लगा है। उनके एक कान में रुद्राक्ष लटक रहा है और उनके सुंदर लम्बे केश फूलों की माला से पीछे की ओर बंधे हुए हैं।

उन की दाढ़ी लम्बी है और तन का रंग स्वर्णिम है। उन की ग्रीवा चमकदार यक्षपंक भस्म के कारण काली है। ग्रीवा से उनका उपवीत नीचे की और लटक रहा है। वे चांद की किरणों की भांति धवल रेशम के वस्त्र पहने योगासन में बैठे हैं, जिसे वीर मुद्रा कहते हैं। उनका एक हाथ घुटने पर है, हाथ में माला है और ऐसी मुद्रा में है जो उन की परम-चौतन्य की अनुभूति का प्रतीक है। कमल जैसे सुंदर दूसरे हाथ की उंगलियों से वे अपनी वीणा के तार बजा रहे हैं।

(दक्षिण से आए सिद्ध मधुराजा योगिन के शब्दों में अभिनवगुप्त का शब्दचित्र)

दुर्वासा के मानस पुत्र

काश्मीर में शैव दर्शन के पुनरोदय के बारे में एक कथा प्रचलित है। कलियुग में शैव–दर्शन का लोप हो गया था, आगम ग्रंथों के पंडितों का सर्वथा अभाव हो गया था। ज्ञान–विज्ञान और धर्म दर्शन की दृष्टि से एक अंधकार युग आरम्भ हो गया था। शिव को लगा कि अब समय आ गया है कि इस लोकोपयोगी दर्शन को पुनः लोक में प्रचलित करके विश्व को पुनः आलोकित करना चाहिये। वे कैलाश पर्वत पर श्रीकण्ट के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने ऋषि दुर्वासा को जन–जन तक शिव संदेशों को पहुंचाने का काम सौंपा। दुर्वासा ने अपने योग बल से तीन मानस–पुत्रों को जन्म दिया। उन्हें ऋषि ने शिव–सूत्र का ज्ञान दिया और भारतवर्ष में शैव–दर्शन की पुनरू स्थापना का आदेश दिया। तीनों को दर्शन के तीन आयामों पर काम करने का कहा गया। भेद, अभेद और भेदाभेद।

भेद यानी शिव और जीव के अलग–अलग होने का मत, जिसे द्वैतवाद भी कहते हैं। अभेद का अर्थ होता है कि शिव या ब्रह्म और जीव एक ही है। जीव शिव का ही रूप है और हर समय उसके भीतर वास करता है। भेदाभेद से तात्पर्य उस धारणा से है जिसमें ब्रम्ह और आत्मा को अलग भी माना जाता है और किसी–किसी अवस्था में एक भी। उन मानस–पुत्रों में से एक त्र्यंबक को अभेद–तत्व का ज्ञान दिया, अमर्दक को भेद का और श्रीनाथ को भेदाभेद आयामों का। यह तीन ही शैव–दर्शन के मूल तत्व हैं। अभेद ही कालांतर में त्रिक दर्शन के नाम से जाना गया। इन शिष्यों ने भी अपने मानस–पुत्रों को यह शिक्षा दी और यह परंपरा पंद्रह पीढ़ी तक चली।

लेकिन पंद्रहवीं पीढ़ी में एक मानस–पुत्र ने नियम तोड़ा और एक ब्राम्हण कन्या से विवाह किया। इन का एक पुत्र हुआ संगमादित्य। यद्यपि संगमादित्य ऋषि का नियम तोड़कर एक स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ था फिर भी उसने शैव–दर्शन का प्रचार करने का अपना मूल दायित्व नहीं छोड़ा। फिर भी सम्भवतः वह उस व्यवस्था में नहीं रह पाया होगा, जो ऋषि दुर्वासा ने अपने मानस शिष्यों के लिए बनाई

थी। वह परिव्राजक की तरह शैव शिक्षा के केंद्रों में ज्ञानार्जन के हेतु घूमता रहा। इसी यायावरी में वह शारदा क्षेत्र, यानी काश्मीर पहुंच गया। उसे यह भूमि ज्ञानार्जन के लिए अधिक उपयुक्त लगी क्योंकि यहां बिना किसी विरोध के साधना की जा सकती थी। संगमादित्य के पुत्र अरुणादित्य और उनके पौत्र आनंद भी पैतृक आश्रम में शैव दर्शन का पठन–पाठन करते रहे, जब तक कि आनंद का पुत्र सोमानंद युवा अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ। सोमानंद प्रतिभावान युवक था और शैव दर्शन के प्रति उसकी जिज्ञासा को देखते हुए वसुगुप्त की उन पर दृष्टि पड़ी और काश्मीर में इन दोनों का मिलन शैव–दर्शन के लिए एक ऐतिहासिक घटना सिद्ध हुई।

शिव-सूत्र का अवतरण

वसुगुप्त को वास्तव में काश्मीर मे शैव–दर्शन को पुनर्स्थापित करने का श्रेय जाता है। उनके बारे में भी एक जन कथा है। वसुगुप्त की असाधारण प्रतिभा को देखते हुए साक्षात शिव ने स्वयं उन्हें शिव–सूत्र का ज्ञान दिया। एक रात जब वसुगुप्त गहरी नींद में सोए थे, सदाशिव स्वयं उनके सपने में आए। शिव ने उन्हें कहा कि अब समय आ गया है कि तुम वास्तविक ज्ञान का पुनः प्रकाश करो। प्रातः तुम महादेव पर्वत के आंचल में जाकर एक विशेष चट्टान को हटाओ और उसके नीचे तुम्हें दैवी ज्ञान मिलेगा।

वसुगुप्त प्रातः उठे और वहां चले गए जहां जाने को कहा गया था। कुछ श्रम करने के पश्चात उन्हें वह चट्टान मिली जो एक छोटी नदी के किनारे पर थी। वसुगुप्त ने छू भर लिया कि चट्टान अपने स्थान से हट गई और उसके नीचे वह महान रचना दिखाई दी, जिसे साक्षात शिव ने रचा था। यही शिव सूत्र थे। वसुगुप्त ने उस ज्ञान को आत्मसात किया और फिर अपने कुछ शिष्यों को भी बांटा। ज्ञान इतना गूढ़ था कि उसे केवल उन्हीं शिष्यों को देने का आदेश था जो इस की पात्रता पा चुके हों। यहीं से कश्मीर में शैव–दर्शन का नया युग आरम्भ हो गया।

वसुगुप्त ही शैव–दर्शन के महत्वपूर्ण सिद्धांत 'स्पंद शास्त्र' के जनक माने जाते हैं लेकिन उनके शिष्य सोमानंद की भूमिका भी इस

सिलसिले में महत्वपूर्ण ही है। उन्होंने शिव दृष्टि के अतिरिक्त 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा सूत्र' लिखा, जिसकी बाद में अभिनवगुप्त ने विषद व्याख्या की। वसुगुप्त के कई अन्य शिष्यों ने अपने गुरु के सिद्धांतों पर विस्तार से लिखा। सोमानंद, कल्लट भट्ट और उत्पलदेव इनमें बहुत प्रसिद्ध हुए।

ललितादित्य और अत्रिगुप्त

इसी के आसपास एक और घटना घट गई। संगमानंद के काश्मीर आने से कुछ समय पहले काश्मीर के एक मेधावी राजा ललितादित्य मुक्तापीड दिग्विजय के लिए निकले और कन्नौज राज्य जा पहुंचे। वहां के राजा को ललितादित्य ने युद्ध में पराजित किया। कन्नौज के राजा ने पराजय स्वीकार कर राजा ललितादित्य को धन और स्वर्ण तो भेंट किया ही, लेकिन विजेता राजा ने एक विचित्र मांग की। उन्होंने कन्नौज के कुछ विद्वानों की मांग की। इनमें राज दरबार में कार्यरत एक शैवाचार्य भी थे जो ललितादित्य के साथ काश्मीर चले गए।

यह शैवाचार्य अत्रिगुप्त मूलतः गंगा और यमुना के दोआब में स्थित अंतर्वेदी नामक क्षेत्र के रहने वाले थे लेकिन अपने दार्शनिक ज्ञान के कारण राज दरबार में पहुंच चुके थे। यह एक विचित्र संयोग था कि राजा ललितादित्य स्वयं घोर भागवत यानी विष्णुभक्त थे फिर भी एक शैवाचार्य को लेकर गए। लेकिन यह संयोग कुछ ही दशक बाद काश्मीर के दार्शनिक इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना बन गई। ललितादित्य ने उनके लिए कुबेर की नगरी अल्कापुरी की भांति सुंदर श्रीनगरी में वितस्ता नदी के किनारे शीतांशुमौलि के मंदिर के निकट एक भव्य भवन बनवा दिया और उसमें अपना आश्रम चलाने के लिए अत्रिगुप्त को एक जागीर भी दे दी।

अत्रिगुप्त और संगमानंद दोनों की कई पीढ़ियां काश्मीर में शैव धर्म के सिद्धांतों का ही अध्ययन नहीं करती रहीं बल्कि उनके वंशजों में से कुछ कला, व्याकरण, नाटक, रसशास्त्र और संगीत का भी अध्ययन करते रहे, जिसका लाभ बाद में अभिनवगुप्त को मिला। दोनों के शिष्यों में

असाधारण और मर्मज्ञ विद्वान पैदा हुए। संगमानंद के परपौत्र सोमानंद और अत्रिगुप्त की कई पीढ़ी पश्चात अभिनवगुप्त कश्मीर में शैव दर्शन को एक नए रूप में स्थापित करने वाले प्रमुख दार्शनिक बने।

अभिनवगुप्त की माता विमला जिसे अभिनवगुप्त श्रद्धा से विमलकला कहते हैं, उनके बचपन में ही चल बसीं। लेकिन मान्यता है कि वे स्वयं भी एक योगिनी थीं। इसलिए अभिनवगुप्त को 'योगिनीभू' कहा जाता है। बाल्यकाल में अभिनवगुप्त किसी पाठशाला नहीं गए क्योंकि उनके परिवार में ही बड़े–बड़े शास्त्रज्ञ थे। उनके पिता ने उन्हें संस्कृत व्याकरण और तर्कशास्त्र सिखाया, उनके चाचा वामनगुप्त काव्यशास्त्र के ज्ञाता थे।

युवा अवस्था में आकर ही उन्होंने एक गुरु की आवश्यकता अनुभव की। शैव धर्म के कई दृष्टिकोणों या परम्पराओं को समझने के लिए ऐसे गुरु की आवश्यकता थी जो स्वयं भी शैव–शास्त्रियों की परम्परा में प्रशिक्षित रहे हों। उनके पहले गुरु लक्ष्मणगुप्त बने लेकिन अभिनवगुप्त की ज्ञान–पिपासा इतनी अधिक थी कि वे किसी एक गुरु के ही ज्ञान से संतुष्ट नहीं हो सकते थे।

उनका मानना था कि भले ही आप को ऐसा गुरु मिले जो सर्वज्ञ हो फिर भी दूसरे मतों और धर्मों और ज्ञान की अन्य शाखाओं को सीखने के लिए और गुरुओं के पास जाना ही चाहिए। बताया जाता है उनके उन्नीस गुरु थे जिनमें एक जालंधर नगर के एक आचार्य शम्भूनाथ से उन्होंने कौल मत या धारणा का ज्ञान प्राप्त किया। उनका कहना था 'मधुमक्खी की भांति बनो जो बहुत से फूलों से पराग बटोरकर उसे अपने ही प्रयास से मधु बनाती है।' यद्यपि शैव धर्म के अनुसार साधकों के लिए विवाह करने का निषेध नहीं है फिर भी अभिनवगुप्त ने जीवन पर्यंत विवाह नहीं किया।

अभिनवगुप्त न केवल वसुगुप्त के बारे में जानते थे, अपितु उनके सिद्धांतों का उन्होंने भली–भांति अध्ययन किया था। वास्तव में वे स्वयं भी वसुगुप्त की ही शिष्य परपरा में थे। वसुगुप्त के शिष्यों की दो शाखाएं थीं। उनके प्रख्यात शिष्य कल्लट भट्ट के शिष्य प्रद्युम्न भट्ट थे।

प्रद्युम्न के पुत्र प्रज्ञाराज ने ही उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। प्रज्ञाराज से भास्कर तक उनकी शिष्य परंपरा अभिनवगुप्त से भी आगे चली। लेकिन वसुगुप्त के शिष्यों की दूसरी श्रृंखला सोमानंद से आरम्भ होती है। प्रसिद्ध शैवाचार्य उत्पलाचार्य सोमानंद के ही शिष्य थे। उनका शिष्यत्व उनके पुत्र लक्ष्मणगुप्त ने सम्भाला और अभिनवगुप्त के मूल गुरु यही लक्ष्मणगुप्त बने।

वैराग्य अनिवार्य नहीं

अभिनवगुप्त के दार्शनिक विश्व की यात्रा करने के लिए हमें काश्मीर में शैव–दर्शन की बहुत लम्बी परंपरा से साक्षात्कार करना होगा। अभिनवगुप्त से पहले के काल में जाने पर ही उनके चिंतन जगत के आधार बिंदुओं को समझा जा सकता है। यह काश्मीर में भाषा, कला और दर्शन का सूर्योदयकाल था। यदि आठवीं शताब्दी में वसुगुप्त को शैव–दर्शन के पहले गम्भीर व्याख्याता मान लें तो अभिनवगुप्त उस काल–खण्ड के सबसे ऊंचे शिखर पर विराजमान माने जाएंगे। वसुगुप्त और अभिनवगुप्त के बीच का डेढ़ सौ वर्ष का कालखण्ड शैव–दर्शन के विभिन्न आयामों के विकास और अनेक दार्शनिक बिंदुओं की परिभाषा का युग था।

जब अभिनवगुप्त ने शैव–दर्शन की गहराइयों को नापने का प्रयास किया तो उन्हें मालूम था कि शैव–दर्शन को तीन दृष्टिकोणों से देखा जाता रहा है। भेद, अभेद और भेदाभेद। अभिनवगुप्त ने अपना मार्ग आरम्भ में ही चुन लिया था। उनके लिए शिव चराचर ब्रह्मांड में ही व्याप्त हैं। उस माया में भी वही व्याप्त हैं जिसे अवरोध माना जाता है। अपने अध्ययन में उन्हें इस दिशा में चार परंपराएं दिखाई दीं, लेकिन मनन करने पर उन्हें लगा कि ये चार अलग दर्शन नहीं एक विराट दर्शन के ही चार अनिवार्य आयाम हैं। ये चार धारणाएं हैं – क्रम परंपरा, कुल परंपरा, स्पंद परंपरा और प्रत्यभिज्ञा परंपरा। इनका गहन अध्ययन करने की आवश्यकता थी।

उन्हें स्पंद मार्ग के बारे में वसुगुप्त के दार्शनिक विवेचन का अध्ययन

करने के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ा क्योंकि वसुगुप्त की लम्बी शिष्य परंपरा में कई आचार्य या तो जीवित थे या उनके ग्रंथ उपलब्ध थे। क्रम धारणा में एरकनाथ साधक के लिए वैयक्तिक ऊर्जा से निकल कर सार्वभौमिक ऊर्जा का भाग बनने को समझाते हैं। प्रत्यभिज्ञा पर अभिनवगुप्त ने विशेष ध्यान दिया है लेकिन इसके आधारभूत तत्वों का ज्ञान वसुगुप्त के ही शिष्य सोमानंद के ग्रंथों में उपलब्ध है और उनकी शिष्य परंपरा के उत्पलाचार्य और बाद में लक्ष्मणगुप्त ने भी इस शास्त्र को समृद्ध किया। लक्ष्मणगुप्त ही अभिनवगुप्त के पहले गुरु थे।

केवल कुल मार्ग को समझने में अभिनवगुप्त को समय भी लगा और श्रम भी। सम्भवतः इस परंपरा पर इसके जनक सुमतिनाथ के ग्रंथ अभिनवगुप्त को नहीं मिले या वे इतने संक्षिप्त थे कि अभिनवगुप्त की जिज्ञासा शांत नहीं हुई। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी रहा हो कि कुल परंपरा एक तांत्रिक परंपरा है जिसे पढ़कर या सुनकर इसे आत्मसात करना संभव नहीं था। इसलिए इसे प्रत्यक्ष अनुभव कर अभिनवगुप्त को अपना दार्शनिक आधार बनाने के लिए आवश्यक रहा हो। जो भी हो, यह तो स्पष्ट है कि काश्मीर में उस समय इस मार्ग के प्रतिष्ठित आचार्य नहीं रहे होंगे। इसलिए अभिनव गुप्त को एक प्रसिद्ध कौलाचार्य शम्भूनाथ से शिक्षा लेने के लिए जालंधर जाना पड़ा।

ऐसा लगता है कि आरम्भिक वर्षों में अभिनवगुप्त के शिष्य अधिकतर उनके सगे सम्बंधी ही थे। उदाहरण के लिए उनके एक सम्बंधी मंदरा अभिनवगुप्त को परिहासपुर, से बाहर अपने कस्बे में अपनी चाची वात्सल्यका के घर के एकांत में ले गया, जहां उन्होंने प्रसिद्ध ग्रंथ तंत्रालोक लिखा। उनके पहले शिष्यों में उनके भाई मनोरथ ही थे। बहन अम्बा और उसके पति करण ने भी शैव–दर्शन सीखने के लिए अभिनवगुप्त की शरण ली थी, लेकिन दुर्भाग्य से करण की शीघ्र ही मृत्यु हो गई। करण के पिता तत्कालीन राजा के मंत्री थे लेकिन उन्होंने पद त्यागकर शिव साधना का मार्ग अपनाया। अन्य शिष्यों में उनके मामा उत्पल के पुत्रों चक्रार और पंचगुप्त और क्षेम का नाम आता है।

आचार्य बनने के पश्चात अभिनवगुप्त को कहीं–कहीं अभिनव गुप्तपाद

भी कहा गया है। इसकी कई प्रकार की व्याख्याएं दी गई हैं। इस प्रकार का अलंकरण शेषनाग को दिया जाता है। कुछ लोगों के अनुसार अभिनवगुप्त को शेषावतार माना जाने लगा था। कुछ लोग मानते हैं कि यह नाम इसलिए दिया गया है कि अभिनवगुप्त अन्य समकालीन आचार्यों के लिए नाग के समान थे। लेकिन बड़े आचार्यों के नाम के साथ पाद लिखने की प्रथा अनोखी नहीं है। यह केवल सम्मानजनक पद ही लगता है। इसलिए उक्त बातें केवल आधारहीन कल्पनाएं ही दिखाई देती हैं।

इसी संदर्भ में कुछ लोगों का कहना है कि शायद उनका मूल नाम कुछ और हो और यह नाम शैवाचार्य बनने के पश्चात दिया गया हो। लेकिन उन्होंने तंत्रालोक में स्वयं लिखा है कि 'इस कृति की रचना अभिनवगुप्त ने की, जिन्होंने यह नाम उनके गुरुजनों ने दिया है।' गुरुजन से अर्थ पूर्वज, माता–पिता भी हो सकता है। अत्रिगुप्त के पश्चात उनके परिवार के लोग केवल शैव धर्म के ही विभिन्न पहलुओं का ही अध्ययन नहीं करते रहे, विस्तारित कुल के विभिन्न सदस्यों की रुचि अलग–अलग विषयों में रही। अगर अभिनवगुप्त के मामा शैव शास्त्री थे तो उनके पिता भाषाशास्त्री। संगीत से लेकर नाटक और आलोचना से लेकर सौंदर्यशास्त्र तक विभिन्न कलाओं और विधाओं के मर्मज्ञ उन्हें अपने ही परिवार में मिले। यह बताना कठिन है कि अभिनवगुप्त के शिष्यों में जिस क्षेमराज का महत्वपूर्ण स्थान रहा है वह भी अभिनवगुप्त का सम्बंधी ही था। इस संभावना का कारण यह है कि अभिनवगुप्त अपने ममेरे भाइयों के बारे में बताते हुए 'क्षेम' का नाम भी विशेष स्नेह से लेते हैं।

ज्ञान के विभिन्न स्रोत

केवल उस समय के सभी शैवाचार्यों से ज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं था। उस युग में वेदांत का बोल–बाला था। बौद्ध यद्यपि अधिकांश केंद्रों से हट रहे थे किन्तु हिमालय की घाटियों और तराइयों में बौद्धों का प्रभाव बना हुआ था। इसलिए बौद्ध और वेदांत के आचार्यों से वार्तालाप भी आवश्यक था। उस समय अगर तंत्र का कहीं प्रभाव था

तो बौद्धों के ही कारण था। महायान सम्प्रदाय में और विशेष रूप से उसी की शाखा वज्रयान में तंत्र का बहुत महत्व है। बताया जाता है कि अभिनवगुप्त जैन और कुछ नास्तिक दर्शनाचार्यों से भी विचार–विनिमय करते रहे थे।

अभिनवगुप्त ने शैव–दर्शन के हर आयाम पर लिखा। इनमें से कुछ तो अब अप्राप्य हैं। उनका महत्वपूर्ण ग्रंथ है– 'तंत्रालोक' परात्रिंषिका विवरण, परमार्थ सार, तंत्रसार और गीतार्थ संग्रह उनकी अन्य प्रचलित पुस्तकें हैं। परमार्थ सार 'शेष की कारिका' पर आधारित है तो गीता संग्रह भगवत गीता पर उनकी टिप्पणी है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र पर अभिनव–भारती और आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक पर विवेचना लिखकर अभिनवगुप्त सामान्य शैव दार्शनिक से काफी आगे निकलते हैं। आनंदवर्धन के इस ग्रंथ पर अपना मत व्यक्त करते हुए ध्वनि को अभिनवगुप्त 'चौथा आयाम' बताते हैं।

पुराने आचार्यों के महान ग्रंथों पर अपनी टिप्पणियां करते समय अभिनवगुप्त काल और समाज दोनों के आलोक में ही व्याख्या करते हैं। गीता के उपदेश और प्रसंग को उन्होंने नकारा नहीं अपितु प्रतीकार्थ रूप में व्यक्त किया है। उनका कहना है कि सभी प्रकार के दुखों से मुक्ति केवल परमशिव को साक्षात देखने से ही संभव है। उन्हें आपत्ति नहीं कि शिव को कोई कृष्ण के रूप में सम्बोधित करे। कौरव–पांडव युद्ध को उन्होंने विद्या और अविद्या के बीच संघर्ष बताया है। प्रत्यभिज्ञा विमर्श उनके प्रिय विषय प्रत्यभिज्ञा को समझाने वाला महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें उन्होंने बताया कि अज्ञान के कारण जिसे भूल गए हैं, उस परमशिव के साथ पुनः साक्षात्कार कैसे हो। अपने अंतिम दिनों में उनके अनुयाई उन्हें मंत्र सिद्ध और भैरव का साक्षात अवतार मानने लगे थे।

बताया जाता है कि लगभग सत्तर वर्ष की आयु में अभिनवगुप्त ने शिव–स्तुति करते हुए अपने अनेक शिष्यों समेत श्रीनगर के पास ही बडगाम जिले के बीरवा गांव की एक गुफा में प्रवेश किया और शिवमय हो गए। यह गुफा आज भी काश्मीर में है।

अभिनवगुप्त के पश्चात उनकी परंपरा को उनके सब से प्रधान शिष्य क्षेमराज ने आगे चलाया। क्षेमराज ने शिव–सूत्र वृत्ति और शिव–सूत्र विमर्शनी के अतिरिक्त हृदयस्पंद संदोहा और स्पंद निर्णय भी लिखे। बताया जाता है कि क्षेमराज ने बुद्ध के बारे में भी एक पुस्तक लिखी, जिसमें बुद्ध की महिमा बताई गई है। क्षेमराज के पश्चात उनके शिष्य योगराज ने अभिनवगुप्त के परमार्थसार पर वार्ता लिखी। क्षेमराज के पश्चात जयरथ शैव–दर्शन के सबसे प्रसिद्ध विद्वान थे। उन्होंने तंत्रालोक पर अपना भाष्य लिखा। यद्यपि राजनैतिक वातावरण प्रतिकूल था फिर भी किसी–न–किसी प्रकार से शैव आचार्यों की यह परंपरा चलती रही।

विज्ञान भैरव तंत्र के लेखक शिवोपाध्याय अठारहवीं शताब्दी के अंतिम शैव–शास्त्री थे। इस परंपरा के तार फिर से जोडने वाले आधुनिक सिद्ध और व्याख्याकार थे स्वामी लक्ष्मण जू, जिनकी संस्था अब भी इस दर्शन का प्रचार–प्रसार कर रही है।

अभिनवगुप्त का निर्वाण

अभिनवगुप्त के जन्म और निर्वाण के बारे में स्वतंत्र स्रोतों से कोई जानकारी नहीं मिलने के कारण जो कुछ जानकारियां हमें प्राप्त हैं वे सब उनके ही ग्रंथों में स्वयं अभिनवगुप्त या उनके शिष्यों के कथन से ही मिलती हैं। जिस भैरव–स्तोत्र को गाते–गाते उनका अपने शिष्यों समेत एक गुफा में प्रवेश करना बताया जाता है, उसमें एक तिथि दी गई है। वसु–रस पौषे कृष्ण दशभ्यां... यानी सम्वत् 68 में पौष मास के कृष्ण पक्ष की दशमी। स्वाभाविक है कि यह विक्रमी सम्वत् नहीं हो सकता है। विक्रमी का प्रचलन उस समय काश्मीर में नहीं था।

काश्मीर में पारंपरिक सम्वत् तो सप्तर्षि सम्वत् ही रहा है जो महाभारत काल से भी पहले से चालू है। पुराणों और कल्हन की राजतरंगिणी में भी इसी सम्वत का उपयोग किया गया है। सप्तर्षि सम्वत सप्त ऋषियों की अपने तारा मण्डल के 27 नक्षत्रों के बीच से एक प्रदक्षिणा करने में 2700 वर्ष लगते हैं– एक नक्षत्र से दूसरे तक जाने में सौ वर्ष

का समय लगता है। इसलिए एक परिक्रमा में 2700 वर्ष ही लगने चाहिए, लेकिन वास्तव में सप्त ऋषियों के एक से दूसरे नक्षत्र तक यात्रा करने में सौ वर्ष से थोड़ा सा समय अधिक लगता है। गति में थोड़ा बहुत अंतर होने के कारण प्रति तीन सौ वर्ष पर दो वर्ष जोड़ दिए जाते हैं। यह उसी प्रकार है जैसे हर चार वर्ष पर हम एक दिन लीप ईयर के तौर पर जोड़ते हैं। कुल मिलाकर पूरी परिक्रमा 2718 वर्ष में पूरी मानी जाती है। क्योंकि सप्तर्षि सम्वत लम्बी अवधि तक चलता है इसलिए लोक में केवल अंतिम दो अंक ही बोले या लिखे जाते हैं। वैसे ही जैसे कोई सन सत्तावन का विद्रोह कहता है तो अपने आप स्पष्ट होता है कि आशय 1857 से है। शताब्दी को मानकर चला जाता है। इसे ईसवी सन में बदलने से 1015–16 का वर्ष आता है।

अभिनवगुप्त ने भैरव–स्तोत्र में उस स्तोत्र की रचना का समय दिया है कि गुफा में जाने का समय, यह विमर्श का विषय हो सकता है। .. रचना उन्होंने पहले भी की हो सकती है। इसलिए उनकी निर्वाण तिथि का अब तक प्राप्त स्रोतों के आधार पर केवल अनुमान ही किया जा सका है। अधिक स्पष्ट साक्ष्य मिलने तक चार जनवरी, 2016 को अनुमानित तिथि ही माना जाना चाहिए।

अभिनवगुप्त का रचना संसार

बताया जाता है कि अभिनव गुप्त ने लगभग 42 पुस्तकें लिखीं थी। लेकिन आज उन में से कई तो उपलब्ध ही नहीं हैं। कुछ अधूरी पांडुलिपियां भी मिली हैं। तंत्र और शैव दर्शन के बारे में उन के प्रमुख ग्रंथों में तंत्रालोक और लाघवी और बृहत विमर्शिनी सब से महत्त्वपूर्ण हैं। तंत्रालोक तंत्र और शैव साधना पर विश्वकोषीय आकार का विशाल ग्रंथ है। इसी विषय को कम शब्दों और सरल भाषा में समझाने के लिए उन्होंने एक और छोटा ग्रंथ लिखा जिस का नाम रखा गया तंत्रसार। इसी वर्ग में परमार्थसार भी शामिल है। संक्षिप्त और बृहत विमर्शनियां अपने गुरु उत्पलाचार्य की प्रसिद्ध पुस्तक ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका पर भाष्य है। इस के अतिरिक्त कुल परम्परा पर लिखी मालिनी विजया वार्तिका और परात्रिंशिका विवर्ण उन की महत्त्वपूर्ण

कृतियां हैं। परात्रिंशिका विर्वण वास्तव में रुद्रमाला तंत्र के 36 पदों का भाष्य है। मालिनी विजया तंत्र पर उन्होंने एक पुस्तक श्रीपूर्व शास्त्र लिखी थी लेकिन वह अब उपलब्ध नहीं है। उनकी आरम्भिक रचनाओं में बोध पंचदर्शिका और पूर्णपंचिका जैसी पुस्तकों का उल्लेख है। इनमें दूसरी अब नहीं मिलती ।

कई स्तोत्रों, जिन में भैरव स्तोत्र सब से प्रसिद्ध है के अतिरिक्त उन की तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रत्यक्ष रूप से शैव दर्शन के बारे में नहीं है, यद्यपि उन पुस्तकों की रचना का उद्देश्य शैव दर्शन की दृष्टि से ही व्याख्या करना है। पहली रचना है भगवतगीता संग्रह। इसमें अभिनव गुप्त ने गीता को विद्या और अविद्या के बीच संघर्ष के रूप से देखा है और यह नतीजा निकाला है कि परम चौतन्य के साक्षात्कार पर ही मोह से मुक्ति मिल सकती है। अन्य दो रचनाएं सौंदर्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के बारे में हैं। पहली अभिनव भारती भरत मुणि की रचना पर अपनी टीका है तो दूसरी लोचना आनंद वर्धन के ध्वन्यालोक पर। इस वर्ग में अभिनव गुप्त ने एक और पुस्तक लिखी थी जो उन के गुरु भट्ट तोता की एक रचना पर आधारित थी। लेकिन यह पुस्तक काव्यकौतुक विवर्ण उप्लब्ध नहीं है। कुछ लेखकों ने कुछ और अनुपलब्ध पुस्ताको की सूची दी है जिन मे अनुभव निवेदनम, देहास्थ देवता चक्रम, परामार्थ द्वादशिका , प्रकिरणका विवर्ण आदि हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त - काव्य एवं सौन्दर्य मीमांसा

हम देख चुके हैं कि आचार्य अभिनवगुप्त पाद की प्रतिभा बहुमुखी है। इस प्रतिभा को उन्होंने गुरु–चरणों में बैठ कर व्युत्पत्ति और अभ्यास से और भी प्रखर बना दिया। उनके प्रमाणभूत आचार्य के रूप में विख्यात होने में उनकी इसी नैसर्गिक प्रतिभा, महान ग्रंथों का अध्ययन–मनन एवं शिवभक्ति का महत्तम योगदान है।

अभिनव ने विविध फूलों से पराग संचित किया और उसे अपनी साधना एवं प्रतिभा के संयोग से मधु में परिणत कर दिया। उनका रति–भक्ति से युक्त एक सुन्दर पद्य है, जिससे उनके दार्शनिक का रस–सिद्ध

होना निश्चित होता है और उनके काव्य सौन्दर्य मीमांसक का दर्शन–निष्णात होना।

"अभिनवगुप्त को साहित्य के रस–भोग में लिप्त देख शिव–भक्ति रूपी नायिका उन्मत्त हो उठी और उसने स्वयं ही जाकर उन्हें पकड़ लिया। इसके बाद उन्होंने स्वयं भी सब कुछ भुलाकर तन्मय होकर लोकाचार आदि को भूल शिव–भक्ति रूपी नायिका के वशीभूत हो गुरु–जनों के घर सेवक का कार्य स्वीकार कर लिया।" (तंत्रालोक – 37. 58–59)

लेकिन अभिनव का वैशिष्ट्य श्रृंगार, काव्य और भक्ति के द्वैत में नहीं, इसके सामरस्य में है। स्वयं आगमशास्त्र की जिन परम्पराओं को समाहित कर उनका उदार व्यक्तित्व निर्मित हुआ, उसमें साहित्य और संगीत के लिये पर्याप्त समर्थन है। विज्ञानभैरव जैसे प्रतिष्ठित आगम ग्रंथ की दो धारणाएं व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं –

"जब योगी का मन गीत आदि के आनन्द के साथ तदाकार हो जाता है तब वह अपने मानस के विस्तार के कारण उस परमतत्त्व के साथ एकाकार हो जाता है।" (73)

"जहाँ जहाँ मन संतुष्टि प्राप्त करता है, मन को (योगी) वहीं धारण करे क्योंकि वहीं–वहीं से परमतत्त्व की आनन्दशक्ति व्यक्त हो जाती है।" (74)

ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उस सर्वव्यापक परमतत्त्व से अछूता कोई भी देश और काल नहीं है। कला एवं सौन्दर्य काश्मीर शैवदर्शन की आधारभूत विशेषताओं में से हैं। काश्मीर शैवदर्शन ऐसा लगता है जैसे कि एक सौन्दर्य मीमांसीय दर्शन है। शिव स्वयं ही नटराज कहे जाते हैं और सृष्टि, स्थिति, संहार तिरोधान एवं अनुग्रह उनके पाँच कृत्य हैं। यही उनकी नृत्य और लीला का रहस्य है। जगत भी एक नाट्य है। यह बाह्य रूप से भी घटित होता है और आंतरिक रूप से भी। शिवसूत्र ग्रंथ का प्रथमसूत्र है – चैतन्यात्मा। अर्थात् आत्मा चैतन्य है। और यही आत्मा अज्ञान के आवरण के कारण अपने स्वरूप की विस्मृति अथवा गोपन से विविध भूमिकाओं का, जैसे कि एक अभिनेता नाट्य मण्डय में, निर्वाह करता है। आगे तीन शिवसूत्रों में यह रूपक पूरा हो जाता है :–

नर्तक आत्मा। रगोअंतरात्मा। प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि। (शिवसूत्र, 3. 9–11)

“आत्मा नर्तक (अभिनेता) है। जैसे एक व्यक्ति अपने आप को पृष्ठभूमि में रखकर स्वयं ही कई चरित्रों की भूमिकाओं को धारण करता है, वैसे ही आत्मा भी अपने स्वरूप का गोपन कर एक संसारी की भूमिका धारण करता है। उसका अन्तःकरण ही रंगमंच है और इन्द्रियाँ दर्शक हैं। इस प्रकार आंतरिक जगत् में भी एक पूरा नाट्य प्रस्तुति चलती रहती है।

इस पृष्ठभूमि में आचार्य अभिनवगुप्त के साहित्य, कला एवं सौन्दर्य चिन्तन को समझा जा सकता है।

शैवदर्शन की तत्त्वमीमांसा में असत् रूप कुछ भी नहीं है। यहां अज्ञान का अर्थ ज्ञान का न होना नहीं हैं, बल्कि सीमित ज्ञान है। यह ‘अज्ञान’ भेद–बुद्धि उत्पन्न करता है एवं परमेश्वर की अनन्त शक्तियों पर, स्वयं परमेश्वर के ही स्वातंत्र्य से, आवरण डाल देता है। जगत् इस दर्शन में सामान्य संसार की तरह है, न तो वह असत् है और न ही मिथ्या।

वैसे तो आचार्य अभिनवगुप्त का गद्य–पद्य लेखन स्वयं में साहित्यिक वैशिष्ट्य से भरा–पूरा है लेकिन उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने संगीत और साहित्य में अपना विशेष योगदान दिया है। संगीत पर उनकी कोई रचना उपलब्ध तो नहीं होती लेकिन शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ ‘संगीत–रत्नाकर’ में आचार्य अभिनवगुप्त का सादर उल्लेख किया है।

साहित्यशास्त्र में उनकी दो विश्व–प्रसिद्ध टीकाएँ हैं– प्रथम ध्वन्यालोकलोचन जो कि संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि–प्रस्थान के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्द्धन (9 वीं शताब्दी) की रचना ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त की टीका है। दूसरी प्रसिद्ध टीका है – अभिनवभारती जो कि भरतमुनि के द्वारा रचित नाट्यशास्त्र पर है। यद्यपि ये टीका ग्रन्थ हैं तथापि साहित्य शास्त्र की परम्परा में इनका समादर किसी भी मौलिक कृति से कम नहीं है। अभिनवगुप्त ने एक अन्य काव्यकृति घटकर्परकुलक पर विवृति (टीका) भी लिखी है। इनके अतिरिक्त अपने परमगुरु उत्पलदेव की भाँति ही उन्होंने भी स्तोत्रग्रंथ लिखे हैं।

इनमें उनका सर्वजनप्रिय स्तोत्र भैरवस्तोत्र है जिसका गायन करते हुए वे अन्त में, आज से कोई एक हजार वर्ष पूर्व भैरव गुफा (भीरूवा) में प्रविष्ट होकर विलीन हो गए थे।

अपने दो प्रसिद्ध साहित्यशास्त्रीय टीकाग्रंथों ध्वन्यालोकलोचन एवं अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने भारतीय साहित्यशास्त्र के दो प्रसिद्ध प्रस्थानों की व्याख्या की है। ये सम्प्रदाय अथवा प्रस्थान हैं – ध्वनि एवं रस। ध्वनि सम्प्रदाय के उनके गुरू हैं– भट्टेन्दुराज। रस सम्प्रदाय के गुरू के रूप में उन्होंने भट्टतौत का सादर उल्लेख किया है। ग्रंथ रचना के क्रम पर विचार करें तो ध्वन्यालोकलोचन की रचना पहले हुई है, तत्पश्चात् अभिनवभारती की। और इन दोनों ग्रंथों से पूर्व 'तंत्रालोक' की रचना की गई है। तंत्रालोक आचार्य अभिनयगुप्त का विश्वकोशीय प्रौर तंत्र वाड्.मय का सबसे प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त की चर्चा से पूर्व हमें एक बात विचार कर लेना चाहिए कि भारत में सौन्दर्यविषयक चर्चा एक स्वतंत्र विधा के रूप में नहीं है। ऐसा नहीं कि यहां सौन्दर्य का सिद्धान्त नहीं है अथवा सौन्दर्यतत्त्व की मीमांसा नहीं है। यह सम्पूर्ण सौन्दर्य–विमर्श भारत में काव्यशास्त्र एवं अन्य कलाओं जैसे संगीत, मूर्ति, चित्र आदि के ग्रंथों में व्याख्यायित है। अभिप्राय यह है कि काव्यशास्त्र में वर्णित सिद्धांत काव्य एवं अन्य ललित कलाओं और सौन्दर्य के लिए भी प्रासंगिक हैं।

अभिनवगुप्त ने लोचन (ध्वन्यालोक) के मंगलाचरण श्लोक में ही कहा है– जो बिना कारण सामग्री के अपूर्व अर्थात् नवीन वस्तु को उत्पन्न अथवा फैला देता है और नीरस जगत् को रस से युक्त कर सारवान् बना देता है तथा क्रम से कवि–प्रतिभा और वचन के विस्तार से अनुभूत होता हुआ वस्तुजगत् को प्रकाशित करता है, वह कवि और सहृदय द्वारा कहा हुआ सरस्वती का तत्त्व, अर्थात् काव्य विजयी है (अर्थात् सबसे बढ़कर हैं)।

काव्य की प्रक्रिया की पूर्णता के लिए कवि और उसके काव्य को ग्रहण करने वाले अध्येता में जिसे सहृदय कहा गया है, अन्तःसंवाद अत्यन्त आवश्यक है। 'सहृदय' की एक मात्र परिभाषा भी आचार्य अभिनवगुप्त

की ही दी हुई है–

काव्यों के अध्ययन–मनन के अभ्यास से जिनके निर्मल और विस्तृत मनरूपी दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता हो वे, अपने ह्रदय के साथ संवाद का आनन्द अनुभव करने वाले सह्रदय हैं।

ध्वन्यालोकलोचन में आचार्य अभिनवगुप्त ने काश्मीरी आचार्य आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनि तत्व की व्याख्या कर उसे साहित्यशास्त्र में स्थापित किया है। आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि, अर्थात शब्द के मुख्य अर्थ से अतिरिक्त जो काव्य के सह्रदय अध्येता को जिसका बोध होता हैं, को काव्य की आत्मा कहा है। जिस काव्य में अर्थ की शब्दार्थ के कुछ इतर (जैसे कि मुक्ताफल में तरलता अथवा सुन्दरी के लावण्य की तरह) अर्थ प्रतीत होता है उस काव्य को उत्तम काव्य कहा गया है। यही 'कुछ इतर' जिन भौतिक उपादानों (जैसे कि शब्द और उसका लोक में रूढ़ अर्थ) से वह वस्तु निर्मित है, काव्य का प्राण–तत्त्व हैं। इसी अर्थ को प्रतीयमान अथवा व्यंग्य अर्थ कहा जाता है।

इतिहास के झरोखे से

कला, संस्कृति, वास्तु, शिल्प, धर्म और दर्शन का तात्कालिक शासन व्यवस्था, समाज की स्थिति और आर्थिक खुशहाली, शासकों में वैचारिक उदारता और सहिष्णुता से गहरा सम्बंध होता है। साथ ही दूसरे क्षेत्रों में देश की छवि भी कला और साहित्य रचना के लिए आकर्षण का कारण बन जाती है। अराजकता और अकाल या मत–मतांतरों के बीच संकुचित भावना और असहिष्णुता में कला और संस्कृति का न तो विस्तार हो सकता है और न पोषण।

वसुगुप्त और अभिनवगुप्त जैसे महान दार्शनिकों का उदय दरअसल एक ऐसे युग में हुआ जब काश्मीर में ही नहीं, समूचे भारत वर्ष में बहुआयामी और दूरगामी घटनाएं घट रही थीं। इस घटनाक्रम में काश्मीर राज्य की भूमिका निर्णायक और महत्वपूर्ण थी। एक ओर पश्चिमी सीमा पर विदेशों से अतिक्रमण और धर्मांध कबीलों के आक्रमणों का खतरा लगातार बढ़ रहा था, दूसरी ओर काश्मीर में एक राजा घाटी और पहाड़ी कस्बों की परिधि से निकलकर अखिल भारतीय स्तर पर अपनी छाप छोड़ने को प्रतिबद्ध था। वह काश्मीर को एक विशाल साम्राज्य का केंद्र बना रहा था।

काश्मीर का राज्य विस्तार केवल काश्मीर घाटी और उसके आसपास के पहाड़ी क्षेत्रों, जम्मू, पुंछ, किश्तवाड़ भौट, बल्ती और दर्द क्षेत्रों तक ही नहीं हुआ अपितु गंगा घाटी को लांघकर विंध्याचल पार तक भी इस राजा का सैनिक वर्चस्व स्थापित हुआ। यह वही युग था जब धार्मिक स्तर पर देश भर में आदि शंकराचार्य की धर्म पताका फहराती थी और हिमालय के आंचल में बौद्ध दर्शनों का गहन अध्ययन हो रहा था। जन–सामान्य पर भागवत धर्म यानी विष्णु के विभिन्न अवतारों का रंग चढ गया था। इसलिए जब काश्मीर में शैव मत के पुनरोत्थान की लहर चल पड़ी तो वातावरण इस असाधारण दार्शनिक धारा के लिए पूरी तरह अनुकूल था।

ईसा की सातवीं शताब्दी के दूसरे चरण में काश्मीर में कारकोट वंश का राज स्थापित हुआ। इस वंश के संस्थापक दुर्लभवर्धन ने कल्पना

भी नहीं की होगी कि राजा के घुड़साल में घोड़ों को घास खिलाने वाला सामान्य कर्मचारी कभी राजा बनेगा और उसी का पोता एक चक्रवर्ती सम्राट बन जाएगा। कल्हण ने उस राजा ललितादित्य मुक्तापीड की दिग्विजय का जो वृतांत लिखा है उस पर बहुत से इतिहासकारों को सहज में ही विश्वास नहीं होता क्योंकि भारत का इतिहास लिखने वाले अंग्रेजों और दूसरे विदेशियों के लिए इतिहास लिखने की सबसे प्रामाणिक सामग्री और साक्ष्य यूरोपीय लेखकों के लिखे वृतांत ही थे। भले ही वे सदियों बाद के लेखकों के उद्धरणों से जोड़कर ही बनाए गए हों। प्रसिद्ध 'इंडीका' भी इसी प्रकार का 'विश्वसनीय साक्ष्य' है लेकिन कल्हण जैसे क्षेत्रीय लेखक अपने देश–काल के बारे में लिखता है तो उनके कथन की पुष्टि में यूरोपीय लेखकों के मान्य प्रमाणपत्रों के अभाव में उन्हें संदेह से देखना तो उनके लिए स्वाभाविक है।

कल्हण के विवरणों की स्मृति समाज में इतनी थी कि बाद के एशियाई या चीनी लेखकों को भी ललितादित्य के विजय अभियान को स्वीकार करना पड़ा। अल–बीरूनी ने तो इसका उल्लेख किया ही, चचनामा के काजी इस्माइल ने भी किया जो अपने आप को मोहम्मद बिन कासिम का समकालीन अरब लेखक मानता था और जो विजेता अरब राजा के साथ भारत आया था। अलबीरूनी भी महमूद गजनी के साथ आया और कई साल यहीं रहा। अल–बरूनी ने भारत के बारे में वे जानकारियां दर्ज की जो उसे यहां के विद्वानों से मिल कर प्राप्त हुई। उसने ललितादित्य के बारे में लिखा है कि उनके बारे में यहां के विद्वान बताते हैं कि उन्होंने पूर्व में बंगाल और पश्चिम में काबुल से आगे भी कई राज्यों को जीता था। अल–बरूनी ने इन तथ्यों की पुष्टि तो नहीं की क्योंकि वे स्वयं ललितादित्य के काफी पश्चात आए लेकिन बंगाल और मध्यप्रदेश में ललितादित्य के राजचिन्हों और उनके सिक्कों के मिलने से उनकी इन राज्यों में सैनिक अभियान की पुष्टि होती ही है।

ललितादित्य की व्यूह रचना

वास्तव में ललितादित्य के लिए शायद काश्मीर के अपने राज्य से बाहर अतिक्रमण करने की विवशता तात्कालिक खतरों के कारण ही पैदा हुई हो, जो उस समय भारतीय उपमहाद्वीप को घेर रहे थे। ईस्वी सन् 711 में मोहम्मद बिन कासिम ने सिंध के राजा दाहर को मारकर भारत में अरब आधिपत्य की नींव रखी। खलीफा हाशिम के शासनकाल में सिंध में उनके राज्यपाल जुनैद ने अरब साम्राज्य को सिंध से बाहर फैलाने का प्रयास किया। वे संभवतः पंजाब की ओर बढने लगे। उसका सामना करने की शक्ति उस समय आस–पास के राजाओं में नहीं थी।

सिंध पर अरबों की विजय के समय से ही देशी राजाओं में हताशा की भावना पैदा हो गई थी, लेकिन ललितादित्य ने सामने आकर जुनैद को वापस खदेड़ दिया। ललितादित्य के लिए यह आवश्यक भी था क्योंकि उन्होंने पंजाब के बहुत से भाग को अपने राज्य में मिला लिया था। आज के लाहौर और जालंधर क्षेत्रों पर तो उनका प्रत्यक्ष शासन था जहां उनके ही प्रतिनिधि प्रशासक या राज्यपाल थे। उत्तर–पश्चिम में भी अफगानिस्तान की तराई में शाही शासकों में नीचे मैदान में उतरने की छटपटाहट दिखाई देने लगी थी। संभव है कि ये हिंदूशाही राजा स्वयं ही अपनी सीमाओं को मुस्लिम आक्रांताओं से असुरक्षित पा रहें हो और ललितादित्य का उस क्षेत्र में अभियान क्षेत्र विस्तार से इतर उनकी मदद के लिए हो।

यह भारतीय इतिहास का सर्वमान्य तथ्य है कि अफगानिस्तान में जब–जब कबीलों में हलचल पैदा होने लगती है पंजाब के रास्ते आक्रमण उसका परिणाम होता रहा है। पंजाब हजारों वर्ष से इन आक्रमणों का भुक्तभोगी रहा है। भारत के मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास में सीमाओं पर आकार लेते आक्रामक बवंडरों को समय रहते कुचलने या काबू करने की समरनीति का सर्वथा अभाव रहा है। अंग्रेजों से पहले राजा रंजीत सिंह ही ऐसे दूरदर्शी राजा थे, जिन्होंने काबुल पर आक्रमण करके भारत की आजादी के समय तक लगभग

डेढ़ सौ साल तक अफगान कबीलों के आक्रमणों से भारत को सुरक्षित रखा। इस क्षेत्र से अगला आक्रमण तो भारत की स्वतंत्रता के बाद काश्मीर पर हुआ।

महाराजा रंजीत सिंह से पहले मध्य काल में ललितादित्य काबुल पर चढाई करके यह समरनीति अपना चुका था। अफगानिस्तान ने बिना जंग के ही काश्मीर की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। आठवीं शताब्दी में पूरे भारत में काश्मीर ही ऐसा राज्य था जो न केवल उत्तर–पश्चिम के बहुत बड़े भाग को अपने अधीन करके इस पूरे इलाके की केंद्रीय राजनैतिक शक्ति बन सकता था अपितु कश्मीर से मध्य एशिया तक व्यापारिक मार्गों पर अपना अधिकार जमाकर बड़ी व्यापारिक ताकत भी बन सकता था। लेकिन कमजोर राजा न तो काश्मीर के अपने राज्य को बचा सकता था और न ही व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा सुनिश्चित कर सकता था।

केंद्रीय सत्ता की कमजोरी का आभास मिलते ही आस–पास के राज्य और कबीले आक्रामक होने लगते थे। इसलिए खतरा उत्तर–पश्चिम से भी था। काश्मीर घाटी के साथ लगे हुए बल्ती और दर्द राज्यों में अपने सुरक्षित क्षेत्रों से नीचे आने की आकांक्षा जग गई थी। बगल में तिब्बत में भी हलचल थी। कई कबीले तिब्बत के उत्तर यानी चीन के क्षेत्रों में अतिक्रमण कर रहे थे और कुछ दक्षिण में काश्मीर राज्य की ओर बढ रहे थे। ललितादित्य के लिए यह आवश्यक था कि वे इन क्षत्रपों को काबू करें। उन्होंने पहले दर्द देश यानी गिलगित को अपने अधिकार में लिया फिर लद्दाख और उसके साथ लगे मंगोल राज्यों को अपना वर्चस्व स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। इसके पश्चात ही तिब्बत को काबू करने का अभियान चलाया। लगता है कि इसके लिए उन्होंने चीन से संधि कर ली होगी क्योंकि चीन और काश्मीर के बीच इस दौरान किसी युद्ध का संकेत नही मिलता।

ललितादत्य की सबसे बड़ी राजनैतिक सफलता रेशम मार्ग को अपने प्रभाव में लाना था। इसका लाभ बाद में अवंतीवर्मन ने उठाया। लेकिन लगता है कि तिब्बत के मामले में ललितादित्य आवश्यकता से अधिक

महत्वाकांक्षी बन गए थे। लद्दाख को नियंत्रण में लाने के पश्चात चीन और तिब्बत के आपसी विवाद में पड़ने के लोभ ने उनसे ऐसी भूल करवा दी जो उनके लिए मारक सिद्ध हुईं। तिब्बत से लौटते समय राजा को एक ऊंची पर्वत श्रृंखला को पार करना पड़ा जहां उन्हें एक हिमपात का सामना करना पड़ा। उत्तर–पश्चिम काश्मीर के सीमांत में इन पर्वतों के बीच हर वर्ष सैकडों यात्री बर्फीले तूफानों में फंस कर मर जाते थे। कश्मीर घाटी में खुलने वाले विशाल तराई क्षेत्र को आज देवसाई कहते हैं। प्रतिकूल मौसम में इस मैदान को पार करने का फैसला ललितादित्य के लिए जीवन का सबसे गलत फैसला सिद्ध हुआ। पूरी सेना समेत ललितादित्य बर्फ के भयानक तूफान में फंसे और उससे जीवित नहीं निकल पाए।

ललितादित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि काश्मीर की सीमाओं को सुरक्षित करने की समरनीति थी। वे जानते थे कि काश्मीर की सीमाएं तब तक सुरक्षित नहीं हो सकती हैं जब तक कि भारत के उत्तरी और उत्तर–पश्चिमी राज्यों को सुरक्षित नहीं किया जा सकेगा। इसके लिए विदेशी आक्रमणों से पूरे उत्तर–पश्चिम भारत को बचाना ही उनकी समरनीति का उद्देश्य था। सिंध पर अरब आक्रमण सफल हो चुका था और उन्हें यह एहसास था कि सिंध से पंजाब बहुत दूर नहीं और आक्रांता शीघ्र ही जम्मू–काश्मीर की सीमाओं तक पहुंच जाएंगे। वे जानते थे कि समुद्र के रास्ते विदेशी आक्रमण का नया मार्ग खुल गया है। इससे पहले उन्हें केवल अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन आदि की दिशा से ही चौकन्ना रहना होता था। अब समुद्र से आक्रांताओं के लिए नया मार्ग खुल गया था।

स्वाभाविक था कि इस पूरी अवधि में कश्मीर में न केवल आर्थिक सम्पन्नता आई और व्यापार के नए रास्ते खुले अपितु राजसत्ता के पास इतना धन भी आया कि उस का उपयोग सांस्कृतिक कामों के लिए किया जाने लगा। विभिन्न कला क्षेत्रों में बहुत से साक्ष्य आज भी खंडहरों के रूप में मिलते हैं। उनमें विश्वप्रसिद्ध मार्तण्ड मंदिर तो है ही, विभिन्न धर्मों के अनेक मंदिरों, धर्मशालाओं और विहारों का भी निर्माण इसी काल मे हुआ। मुक्त केशव मंदिर का निर्माण तो मार्तण्ड से

भी भव्य बताया गया है जिसके शिखर में ही चौरासी हजार तोले सोने का प्रयोग किया गया था। ललितादित्य ने पुरातात्विक महत्व के अवशेष का भी जीर्णोद्धार कराया और विदेशों में भी मंदिर बनवाए। कल्हण के अनुसार नरसिंह अवतार का एक मंदिर उन्होंने तुर्किस्तान में भी बनवाया था।

इस युग की महत्वपूर्ण विशेषता थी कला और संस्कृति का अखिल भारतीय आदान–प्रदान। जहां–जहां ललितादित्य गए काश्मीर के वास्तु शिल्प को भी ले गए। भारत के कई राज्यों में इस युग की काश्मीरी वास्तुकला के नमूने मिले हैं। इस सम्बंध में केरल के पेरुमल वंश के काल में वहां बने कई मंदिरों पर काश्मीरी कला का प्रभाव माना जाता है। राजतरंगिणी के अनुसार 'कोकण के सात क्षेत्रों में विजय पाने के बाद राजा लौटे और वहां अपने द्वारपालक भेजे जिन्होंने हर द्वार के पास एक मदिर बनवाया। राजधानी महोदयपुर में उन्होंने एक विशाल मंदिर बनवाया जिसका वास्तुशिल्प वैसा ही था जैसा काश्मीर के मार्तण्ड में है।' बाद में अवंतीवर्मन ने भी पेरुमल शासन के दौरान ही एक धर्म प्रचारक को भेजा। दक्षिण भारत के साथ यह सांस्कृतिक सम्बंध ग्यारहवीं सदी तक बने रहे।

कुछ लोगों का मानना है कि नम्बूदरी ब्राह्मण शायद उत्तर भारत से ही गए थे। बताया जाता है कि 64 द्वारपाल काश्मीर से केरल गए जिन्होंने इतने ही मंदिर बनवाए। क्या ये ब्राहमण नम्बूदरी ब्राह्मण थे। केरल का इतिहास बताने वाले एक ग्रंथ 'केरलापति' में परशुराम की यात्रा का उल्लेख है। इसके अनुसार परशुराम ने अपना परसा गोकर्ण से फेंका जिससे तट पर पानी वहां से हट गया। इसी नई भूमि को परशुराम क्षेत्र कहते हैं। तब उसने 64 ब्राह्मणों को उत्तर से लाकर केरल में स्थापित किया। परशुराम की यह कथा तमिलनाडु और पूरे मालाबर क्षेत्र में किसी न किसी रूप में प्रचलित है और केरल के नम्बूदिरी ब्राह्मणों की तरह अन्य जातियां भी अपने दैवी मूल को स्थापित करने के लिए इसका इस्तेमाल करती रही हैं। काश्मीर में ज्ञान और कला के केंद्रों की स्थापना का काम तो ललितादित्य ने आरम्भ किया था लेकिन जब तक भारत के अन्य राजाओं ने विदेशियों को रोकने का क्रम जारी रखा, कश्मीर की यह सुरक्षित

स्थिति बनी रही। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा बहुत समय तक नहीं हो पाया और अगले दो–तीन सौ वर्षों के भीतर ही काश्मीर की ज्ञान और कला के केंद्र की स्थिति समाप्त हो गई। धर्म दर्शन का अद्‌भुद संगम इसी का परिणाम था।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद

यह एक असाधारण संयोग है कि ललितादित्य के दक्षिण आने के कुछ ही वर्ष पश्चात आदि शंकराचार्य केरल में पैदा हुए और दक्षिण से उत्तर की ओर धर्म विजय पर चल पड़े। वास्तव में यह युग यानी 700 ईस्वी से 1000 ईस्वी तक देश में विचार और शिल्प का और धर्म और दर्शन के मंथन का भी युग था। शंकराचार्य अद्वैतवादी थे। उनका मानना था कि केवल ब्रह्म ही सत्य है और वही सभी के अंतर में निवास करता है। आत्मा उसी का प्रतिबिम्ब है। इसीलिए महावाक्य प्रचलित हुआ– 'मैं ही ब्रह्म हूँ'।

दर्शन को उनकी महत्वपूर्ण देन प्रमाण की अनिवार्यता है। इस ब्रह्मांड से जुड़ी हर बात और धारणा के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। बिना प्रमाण के कोई बात तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं हो सकती है। समाज में उस समय भी श्रुति यानी वेद को सर्वमान्य प्रमाण माना जाता था लेकिन शंकर इसे अक्षरशः सही नहीं मानते, वे मानते थे कि श्रुति के कथन को प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त ज्ञान के आधार पर पुष्ट करने की आवश्यकता है, अर्थात श्रुति भी जाँच की परिधि में आती है। वे ज्ञानार्जन में वस्तुनिष्ठता, वस्तुतंत्र के महत्व को मानते थे और व्यक्तिनिष्ठा, पुरुषतंत्र को गौण समझते थे।

श्रुति वचन की परीक्षा करने का आग्रह इसलिए था कि उस समय लोगों में वेदों या उपनिषदों से बिना संदर्भ के ही इधर–उधर से वाक्य या सूत्र उठाकर अपने दावों को सिद्ध करते रहने की प्रवृत्ति व्याप्त थी। इससे वेदों के बारे में भ्रातियां फैलती थीं। ज्ञान प्राप्ति के लिए शंकर ने छह शर्तें रखी हैं। ज्ञान पथ पर चलने के लिए निम्न परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना आवश्यक है –

1– उपयाम और उपसंहार में समता हो, अर्थात आरम्भ में हमारा जो आशय हो वही अंत पर भी हो। आदि और अंत में विरोधाभास न हो।

2– अभ्यास – वक्तव्य का दोहराने पर भी व्यतिक्रम न हो।

3– अपूर्वता – जो ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है उसमें मौलिकता हो। वह किसी पहले मत या वाद की पुनरावृत्ति न हो।

4– फल – उस का फल मिलता हो। वह निष्फल कार्य न हो।

5– अर्थवत्ता – उससे क्या संदेश मिलता है।

6– युक्ति – जो बात की जा रही है उस की परीक्षा या पुष्टि होनी चाहिए।

शंकराचार्य विभिन्न देव–देवियों की पूजा–अर्चना को केवल भक्त को सांसारिक मोह से हटा कर ज्ञान–पथ पर जाने को प्रेरित करने का सामान्य साधन ही मानते थे। लेकिन इसी से मोक्ष या अनंत ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। वास्तव में दार्शनिक स्तर पर तो वे मानते थे कि इससे द्वैत की भावना उत्पन्न होने की आशंका रहती है। ब्राह्ममय होने के लिए बीच के सभी अवरोधों को हटाने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है।

शंकराचार्य की विवेचना में माया का बहुत महत्व है। माया की धारणा शंकराचार्य की अपनी नहीं है, वेदों और उपनिषदों में भी माया के अस्तित्व को स्वीकारा गया है, लेकिन शंकराचार्य ने माया की जिस तरह व्याख्या की है उससे आगे जाकर शैवों और वेदांतियों के बीच विवाद पैदा हो गया। ईशोपनिषद ने इसे 'एक सुनहरा परदा' बताया है जिसकी चमक में वास्तविक लक्ष्य से ध्यान भटक जाता है। छांदोग्य उपनिषद के अनुसार ब्रह्म ही वास्तविक है शेष तो केवल 'शब्दाभिव्यक्ति' मात्र है। शंकर माया को एक ऐसा आवरण मानते हैं जिस को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है, जो त्रिगुणात्मक है, अनिर्वचनीय है, ज्ञान विरोधी है और विक्षेप है। लेकिन यह माया ब्रह्माश्रयी ही है। यानी माया तभी सम्भव है तब ब्रह्म चाहे।

शंकराचार्य के प्रचलित वाक्य 'ब्रह्म सत्यम् जगत मिथ्या' से आभास होता है कि वे माया का कोई अस्तित्व नहीं मानते, उसे केवल कल्पना

मात्र या केवल आभास मात्र मानते हैं। उसी संदर्भ में दिए जा रहे उदाहरण से बात स्पष्ट होती है। इसमें एक खाली मटके का उदाहरण दिया गया है जिसके भीतर भी वायु है और बाहर भी। माया को मटके के समान माना है। अंदर जीवात्मा है तो बाहर ब्रह्म, दोनों एक ही तत्व हैं। यदि मटका टूट जाए तो बाहर भीतर एक हो जाएगा। इसी बात को बाद के संतों, कवियों ने पानी से भरे हुए मटके के रूप में व्यक्त किया। माया ब्रह्म की ही शक्ति है और उसी से इस भौतिक विश्व की रचना होती है। यह त्रिगुणात्मक है। शंकराचार्य इंद्रियनिग्रह के माध्यम से ही माया के परदे के पार होने का मार्ग सुझाते हैं। मायालोक में सम्मिलित हो कर नहीं।

हिमालय की तलहटी में बौद्ध प्रभाव

काश्मीर और उस के आस–पास के क्षेत्रों में उस समय भी बौद्ध धर्म का प्रभाव था। हिमालय की तराइयों और तिब्बत में तो वज्रयान शाखा सबसे प्रचलित शाखा थी। इसको भारतीय विद्वान गुरु प्रसम्भव ने तिब्बत में प्रचलित किया था। काश्मीर में भी महायान सम्प्रदाय का ही प्रभाव था। यह केवल अशोक और कनिष्क के काल तक ही सीमित नहीं था। जो राजा बौद्ध नहीं थे उनके शासन काल में भी काश्मीर में विहार बनते रहे। महत्वपूर्ण बात है कि ललितादित्य की दिग्विजय में बहुत से देश तो बौद्ध ही थे जिनमें तिब्बत के अतिरिक्त दर्द देश भी था। दर्द देश को बाद में गिलगित के नाम से जाना जाने लगा।

जिस समय ललितादित्य की सेनाएं गिलगित में वहां के क्षत्रपों को नियंत्रित कर रही थीं उस समय भी गिलगित में कमलसूत्र को लिपिबद्ध करने और उसे सुरक्षित रखने के लिए सूत्रों के सचित्र पाठ को लकड़ी की कलात्मक संदूकचियों में रखने का काम चल रहा था। प्रसिद्ध 'गिलगित पांडुलिपियों' में से कुछ तो लगभग उसी काल की हैं जबकि काश्मीर घाटी में शैव दर्शन का पुनरोत्थान आरम्भ हो रहा था। बताया जाता है कि कनिष्क के समय बौद्ध धर्म की तीसरी संगीति काश्मीर में हुई थी। इसे कुछ विद्वान विवाद का विषय मानते हैं। पूर्ण बौद्ध परिषद थी या नहीं, इस पर विवाद हो सकता है लेकिन एक

व्यापक सम्मेलन अवश्य आयोजित हुआ था और संभव है कि यह मुख्य रूप से महायान सम्प्रदाय का ही सम्मेलन रहा हो। इसी दौरान प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन काश्मीर में थे। नागार्जुन के शून्यवाद का प्रभाव शैव उदय काल के बाद तक काश्मीर में रहा। लल्लेश्वरी और नुंद ऋषि यानी शेख नूरुद्दीन, दोनों शून्य की बात करते हैं। नुंद ऋषि तो शिव और शून्य के मिलन का पाठ पढ़ा रहे हैं।

अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं थी। बुद्ध के प्रतीकों की सामान्य पूजा तो होती थी लेकिन बुद्ध की प्रतिमा के बदले आसन रिक्त ही रहता था। केवल पुष्प, माला, वज्र, चरण पादुका आदि प्रतीकों को ही रखा जाता था। बुद्ध को लोकोत्तर नहीं माना जाता था। पहली बार जब अशोक के प्रयास से बौद्ध धर्म भारत के प्रत्यांतों और विदेशों में भी फैलने लगा तो बहुत से स्तूप जगह–जगह बनने लगे। बहुत सारे विहारों का भी निर्माण किया जाने लगा। इससे व्यापक क्षेत्र में बौद्ध वास्तु कला का विकास होने के साथ ही मूर्तिकला को भी प्रोत्साहन मिला।

आरंभिक बौद्ध मानते थे कि पूजा–अर्चना करने से कोई लाभ नहीं। ऐसा करने से न तो बुद्ध प्रसन्न होंगे और न ही साधक को वरदान देंगे। बुद्ध और ईसा में मौलिक अंतर है कि बुद्ध न तो वरदान देते हैं और न ही प्रसाद.. जिसे ईसाई 'ग्रेस' कहते हैं। लेकिन एक बार मूर्ति बन गई और प्रतीकों के बदले उन्हें स्थान मिला तो बुद्ध के लोकोत्तर बनने में देर नहीं लगी। धीरे–धीरे बौद्ध धर्म में ईश्वर की कृपा के रूप में वरदान पाने के लिए साधना का भी प्रचलन हो गया था।

महायान के अनेक आचार्यों ने कई नए पथ प्रदर्शित किए, कई नए आयाम खोल दिए, लेकिन काश्मीर के बारे में शायद नागार्जुन का महत्व सबसे अधिक मानना होगा। नागार्जुन की दो धारणाओं ने महायान को नई दिशा दी। उनकी शून्य की कल्पना और उनका सापेक्षतावाद। मूल्यांकन तुलनात्मक ही होता है, यानी सापेक्ष होता है। लम्बे का अर्थ केवल छोटे की ही तुलना में है, अच्छे का बुरे की तुलना में।

शैव और बौद्ध दोनों धर्मों में तंत्र का महत्व है। तंत्र को परम चेतना

अथवा ब्रह्ममय होने के साधना पथ के रूप में अपनाया जाता रहा है। तंत्र काश्मीर शैव मत के पुनर्जन्म से बहुत पहले से प्रचलन में रहा है। लेकिन दर्शन और ईश्वर प्राप्ति के लिए साधना के बदले उसका व्यक्तिगत आकांक्षाओं और ऐंद्रिय भूख की तुष्टि के लिए साधन बन जाने की प्रवृत्ति शैव दर्शन के पुनरोदय से पहले तक आ चुकी थी। तिब्बत में पद्‌मसंभव या रिम्पोचे ने आठवीं शताब्दी में तांत्रिक बौद्ध धर्म को स्थापित किया। इसका उद्देश्य वहां की आसुरी शक्तियों को समाप्त करना था। लेकिन तांत्रिक धारणा के अनुसार नकारात्मक शक्तियों को समाप्त करने के बदले उन्हें सत्कार्य और धर्म की सहायता के पथ पर लाना चाहिए। तिब्बत की इन आसुरी शक्तियों को भी धर्म के रास्ते पर लाया गया, लेकिन कालांतर में तंत्र यहां भी चमत्कारिक शक्तियों की साधना का मार्ग ही बन गया।

तिब्बत का काश्मीर पर प्रभाव पड़ा हो या दोनों का एक दूसरे पर, लेकिन यह तय है कि तंत्र अपने दार्शनिक और धार्मिक उद्देश्य से हट चुका था। काश्मीर में एक समय तो तांत्रिकों का इतना प्रभाव हो गया था कि राजसत्ता पर कौन बैठेगा यह तांत्रिक ही तय करने लगे थे। कुछ ऐसी ही स्थिति पैदा हो गई थी जो सदियों पहले ईरान में मग पुरोहितों के राजसत्ता पर अधिकार करने से पैदा हुई थी। शायद तंत्र को दक्षिणाचार और वामाचार में वर्गित करने की आवश्यकता तभी पड़ी हो।

सातवीं शताब्दी में सामाजिक और राजनैतिक बदलाव का साहित्यिक और दार्शनिक वातावरण पर भी प्रभाव पड़ा और मूल्यों और सिद्धान्तों के विश्लेषण और नई व्याख्याओं की आवश्यकता महसूस होने लगी। भले ही बौद्ध मत के भारत की मुख्य भूमि से हटने के पीछे शंकराचार्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही हो, लेकिन इसके कुछ सैद्धांतिक कारण भी थे। बौद्ध धर्म वेदांत और शैव दर्शनों की तुलना में विश्व को समझने के लिए किसी परमतत्व की कल्पना नहीं कर पाया और न ही किसी ग्रंथ के प्रमाण को स्वीकार कर पाया। शंकर की तरह उसने प्रमाण की अलग व्याख्या भी नहीं की। पांचवीं शताब्दी के आसपास ही बौद्धों ने प्रमाण की आवश्यकता महसूस की।

काश्मीर में शैव धर्म के प्रचार के समय वैष्णव धर्म भी जनसाधारण में लोकप्रिय था। कई राजा वैष्णव ही थे। स्वयं ललितादित्य वैष्णव ही थे। राम और कृष्ण आस्था का केंद्र बन चुके थे। प्राचीन मंदिरों के अवशेषों में यह बात दिखती है कि बौद्ध और शैव दर्शनों के प्रचार–प्रसार के बावजूद सगुण भक्ति का काफी प्रभाव था। इसीलिए अभिनवगुप्त को गीतार्थ संग्रह जैसा ग्रंथ लिखने की आवश्यकता पड़ी होगी। यह महत्वपूर्ण है कि आठवीं शताब्दी के आरम्भ से ही देश के अन्य राज्यों से विभिन्न दर्शनों और कलाओं के विद्वान और जानकार काश्मीर आने लगे थे। सुदूर दक्षिण से लेकर बंगाल तक और उत्तर पश्चिम से लेकर मध्य देश तक सब दिशाओं से काश्मीर अनेक ज्ञान धाराओं का संगम बनने लगा था।

त्रिक दर्शन- शिवोहम ! शिवोहम !

शैव दर्शन क्या है ? वेदांत की भांति ही यह एक आस्तिक दर्शन है और वेदांत की भांति वह ब्रह्म या शिव को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वत्र विद्यमान मानता है। बस शैव उसे शिव, परम चैतन्य या आत्मन् के नाम से सम्बोधित करते हैं अर्थात दोनों अद्वैत को मानते हैं। अगर वेदांती अपना अंतिम लक्ष्य ब्रह्ममय होना मानते हैं तो शैव उसे शिवमय कहते हैं। अहं ब्रह्मास्मि और शिवोहम दोनों की धारणा है। शैव मत मानता है कि शिव हर जीव के भीतर वास करता है, उसका अनुभव केवल सतत साधना से प्राप्त शुद्ध ज्ञान से ही हो सकता है। जीव उसी का लघु रूप है। शिव यद्यपि अपने में पूर्ण है और उसे किसी बात की आवश्यकता नहीं है फिर भी वह क्रियाशील है। यही क्रियाशीलता उसे विस्तार करके ब्रह्मांड के रूप में विस्तारित होने की प्रेरणा देती है।

शिव का रूप परम चैतन्य है। लेकिन वह जब अपना विस्तार करता है तो उसे क्रियाशील होने की आवश्यकता होती है। यह वह स्वयं नही करता। अपने ही एक क्रिया—रूप को जन्म देता है जिसे शक्ति कहते हैं। शक्ति शिव का नारी रूप भी है। नारी जन्म—धात्री है और इसलिए उसे रचनात्मकता का प्रतीक माना जाता है। सम्भवतः इसीलिए अपने क्रियात्मक स्वरूप को नारी के रूप में जन्म दिया गया है। शिव की क्रियाशीलता के ही कारण सृष्टि का जन्म होता है और शिव का विस्तार होता है क्योंकि शिव ही शक्ति का जन्मदाता है, वहीं जगत को बनाता है। इसलिए वही सब चराचर में स्वयं विद्यमान है।

शक्ति की सतत क्रियाशीलता को स्पंदन कहते हैं। यह सूक्ष्म कम्पन भौतिक जगत का स्वभाव है। परमाणु के भीतर विभिन्न लघु कण सतत क्रियाशील होते हैं, हर समय एक विशेष प्रकार का नृत्य करते रहते हैं। इस सूक्ष्म क्रिया के कारण भी एक कम्पन या स्पंदन होता रहता है। वह स्पंदन सृष्टि की विशेषता है। जब गतिशील शक्ति के शिव की छाती पर नृत्य करने की कल्पना की जाती है तो प्रतीकात्मक रूप से इसी भाव की अभिव्यक्ति होती है। यह वास्तव में सृष्टि का प्रसार ही है। साधक या योगी का इसी सूक्ष्म स्पंदन का अनुभव होना आनंद की

लहरों पर तैरने के समान है। लेकिन इसके लिए मार्ग दर्शक चाहिए, गुरु चाहिए। गुरु मंत्र उस शक्तिपात की तरह होता है जो साधक को उस आनंद मार्ग पर अग्रसर करता है। मंत्र एक बीज है जिस में अनंत शक्ति भरी है। साधक के भीतर इसका उचित पोषण होने पर ही वह उस स्पंदन को अनुभव करने की स्थिति में आता है।

शिव का विस्तार ही सृष्टि

शिव से शक्ति बनने और संसार या सृष्टि को जन्म देने की शैव दर्शन में विषद व्याख्या की गई है। ब्रह्मांड का जन्म परमशिव के विस्तार के अनुभव का आभास है। इसे आभास शायद इसलिए कहा गया है कि परमशिव का जो यह वैविध्य है, उसका अनुभव भी वास्तविक होता है। इस सृष्टि की रचना में शिव के अतिरिक्त किसी और वस्तु या तत्व का कोई योगदान नहीं होता। वह अपने–आप में ही पूर्ण है और उसे किसी बात की कमी नहीं होती। तो फिर वे अपने–आप को सृष्टि की विविधता के रूप में क्यों प्रकट करते हैं?

अभिनवगुप्त मानते हैं कि शिव अपने–आप में पूर्ण हैं और परम आनंद की अवस्था में हैं। लेकिन आनंद कोई स्थिर या जड़ अवस्था नहीं जिसमें कोई गति ही ना हो। उसमें विमर्श होता है और यही क्रिया का स्रोत है और जब परमशिव के चैतन्य का अपने आपसे बाहर विस्तार होता है तो ब्रह्मांड अस्तित्व में आता है। इसके विपरीत जब वह अपनी चैतन्यता को वापस खींच लेता है तो सृष्टि का अंत होता है। इसी को हम प्रलय कहते हैं। सृष्टि के इस जन्म के साथ एक प्रकार का द्वैत सा दिखने लगता है। परमशिव की एकता का तत्व और सृष्टि की विविधता का तत्व आमने–सामने होते हैं लेकिन वास्तव में दोनों एक–दूसरे से भिन्न नहीं हैं, सीमाएं एक–दूसरे में विलीन हो जाती हैं।

जब शिव पुरुष के रूप में भाषित होना चाहता है तो स्वाभाविक है कि वह अपने–आप पर कई प्रकार के बंधन लगाता है। एक से बहु होना है, उसे मुक्त और असीम से सीमित और परवश जीव बनना है यानी उसे पशु बनना है, जो स्वतंत्र नहीं है। बंधनों का यह विराट

ताना—बाना ही माया कहलाता है। उस परमशिव की शुद्ध चेतना पर माया का प्रभाव पड़ता है और वह पांच प्रकार की सीमाओं में बंध जाता है अर्थात उस पर पांच प्रकार के परदे पड़ते हैं जो उसे ढक लेते हैं। इन्हें पांच कंचुकाएं कहते हैं। वह चिदाणु बन जाता है। इसी अवसर पर उसे पूर्व सृष्टि से चली आने वाली कर्ममाला भी ढांप लेती है। इन कंचुकाओं को भेदने के लिए साधक को विभिन्न उपायों से गुजर कर उस स्थिति में पहुंचना होता है जिससे परमशिव के चैतन्य रूप का अनुभव हो। लेकिन इस बिंदु तक पहुंचने के लिए शक्तिपात की आवश्यकता होती जो वास्तव में शिवानुग्रह से ही होता है। शक्तिपात गुरु के माध्यम से ही संभव है, लेकिन गुरु द्वारा दिए गए शक्तिपात में भी शिवानुग्रह ही होता है।

परावाक से माया तक

उपलब्ध ऐतिहासिक जानकारियों के अनुसार काश्मीर में शैव दर्शन का उदय आठवीं शताब्दी में हुआ, लेकिन शैव इसे केवल पुनरोदय मानते हैं। शैवों का विश्वास है कि शैव मत सृष्टि से भी पहले से था। सृष्टि की रचना प्रक्रिया भी उसी के अनुसार हुई। आरम्भ में वह लोकातीत परावाक के रूप में था जो शब्दहीन शब्द था। धीरे—धीरे वह विचार के बिम्बों के रूप में प्रकट होने लगा जिसे 'पश्यंति' कहा गया। इसी ने तीसरा रूप धारण किया जिसे मध्यमा कहते हैं। मध्यमा विचार और अनुभव अब शब्दों में व्यक्त किया जा सकता था। इसी में शैव शास्त्रों का आविर्भाव हुआ। शैवाचार्य मानते हैं कि प्रचलित चार मार्गों से पहले भी आगम शस्त्र थे जिनकी स्थिति वैसी ही है जैसी वेदांत में वेद की है। वे मानवेतर माने जाते हैं। आठवीं शताब्दी में तो कलियुग में शैव—दर्शन के लोप के बाद पुनः शिव—सूत्र के माध्यम से लोक में शैव मत प्रचलित किया गया।

शैव—दर्शन का लक्ष्य तो एक ही है लेकिन लक्ष्य तक पहुंचने के चार परम्परागत मार्ग सुझाए गए हैं। क्रम—परंपरा, जिसे एरकनाथ ने प्रस्तुत किया। कुल—परंपरा.. जिसे प्रस्तुत करने का श्रेय सुमति नाथ को दिया जाता है, स्पंद.. जो वसुगुप्त के नाम से जाना जाता है और

प्रत्यभिज्ञा.. जिसका श्रेय वसुगुप्त के ही एक शिष्य सोमानंद को जाता है। सभी मार्ग साधक की आत्मशक्ति को विकसित करके उसे सामूहिक शक्ति का वरण करने की क्षमता देने के लिए ही बने हैं। लेकिन वे इस मार्ग पर चलने के लिए अलग–अलग बिंदु से अपना तर्क आरम्भ करते हैं। उदाहरण के लिए क्रम–मार्ग में साधक की आत्मशक्ति को इस प्रकार विकसित करने का प्रयास किया जाता है कि वह व्यक्तिगत ऊर्जा से आगे निकलकर सार्वभौमिक ऊर्जा को आत्मसात करे, पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त चेतना का अनुभव करे। कुल या कौल मार्ग में सुमतिनाथ वैयक्तिक सत्ता से उठकर सार्वभौमिक सत्ता को अंगीकार करने का सुझाव देते हैं।

आत्मन् को कई नामों से पुकारा जाता है, शिव या परमशिव या परम–चैतन्य आदि। यह सभी चराचर जगत में जीवों और अचल वस्तुओं के बीच रहता है और यह वास्तविक सत्य है जो काल, स्थान या दिशा से परे है। ब्रह्मांड की यह विविधता उन्हीं की अभिव्यक्ति है और इसमें उनके अतिरिक्त न कोई और शक्ति है, न ही कोई वस्तु कारक है। परमशिव के इस रूप को ही शक्ति कहते हैं जो उनसे अलग नहीं है।

शक्ति की विविधता ही सृष्टि है तो उसका संकुचन प्रलय का कारण बन जाता है। जब शिव सृष्टि की रचना करना चाहते हैं तो जिन सीमाओं में उन्हें बंधना होता है वे शक्ति के माध्यम से ही होती हैं। फिर माया शेष सभी तत्वों को नियंत्रित कर लेती है। माया वास्तविक अनुभव को ही इस प्रकार बाधित करती है कि अनुभवकर्ता केवल सीमित अनुभव ही कर पाता है। वह पूर्व के सभी अनुभवों को बदल देती है। माया चैतन्य को सुप्त कर देती है। शुद्ध और अशुद्ध के बीच अंतर करने की क्षमता को अवरुद्ध करती है। इसका प्रभाव शिव के नित्यत्व, व्यापकत्व, पूर्णत्व, सर्वज्ञानत्व और सर्व–कृतित्व की विशेषताओं को प्रभावित करता है और एक निस्सारता की भावना उत्पन्न होती है। इसलिए शुद्ध विद्या अवस्था का पांच आवरणों में लिपटा उत्पाद ही पुरुष कहलाता है। आंतरिक केंद्र शुद्ध विद्याचरण में ही अपरिवर्तत रहता है।

यद्यपि अंतर में सभी पुरुष भी एक ही होते हैं लेकिन माया के कारण सभी अपने–आप को अलग–अलग मानते हैं लेकिन पुरुषों को एक–दूसरे से जोड़ने के लिए प्रकृति अपनी भूमिका में आती है। यह प्रकृति सीमित दायरे में ही पुरुष को विभिन्न अवस्थाओं से जोड़ती है। सुख–दुख और मोह प्रकृति का आधार है। इन्हें गुण कहते हैं। बौद्धिक स्तर पर प्रकृति और पुरूष का सम्बंध बुद्धि, अहंकार और मनस से है। अहंकार पुरूष में अहम तत्व है जो परमशिव की अवस्था में असीम है लेकिन पुरूष के सन्दर्भ में बहुत ही सीमित। अहंकार पुरूष के रूप में अपने अनुभवों के आधार पर बनता है लेकिन बुद्धि इन अनुभवों का समन्वय करके उसे ठोस आधार प्रदान करती है। 'मनस' द्वारा इंद्रियों से प्राप्त संकेतों से बनते बिम्ब हैं, ये बाहरी विश्व के बिम्ब होते हैं। 'मनस' इंद्रियों और वस्तुओं की पहचान के बीच का सेतु है।

माया का आवरण

माया ब्रह्म या परम शिव की पहचान में बाधक है और उसकी बाधा को पार करना या भेदना परमशिव से मिलन के लिए अनिवार्य है। यह बात शैव और वेदांती दोनों मानते हैं। इस आवरण से निकलने के उपाय दोनों ने सुझाए हैं। अंतर केवल यह है कि शैव कहते हैं कि माया को नकारने की आवश्यकता नहीं है माया द्वारा रचे संसार को भोग कर भी परम–चैतन्य को पाया जा सकता है। लेकिन शंकर मानते हैं कि माया को भोग कर माया के चंगुल से नहीं निकला जा सकता है। पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त चैतन्य को चित्त कहते हैं। यही मूल तत्व है लेकिन जब शिव जीव में बदल जाता है तो माया के प्रभाव से उसमें कई प्रकार के मल आते है। उन्हीं मलों से मुक्ति का प्रयास ही साधना है। शैव दर्शन में माया के बंधनों से मुक्ति के जिन उपायों का सुझाव दिया गया है उनमें पहला क्रिया उपाय है। इसमें यौगिक आसन, प्राणायाम और हठ–योग का अभ्यास आदि शामिल हैं। माना जाता है इनसे शरीर और मन दोनों को साधना के आने वाले चरणों के लिए तैयार किया जा सकता है। इनसे मानसिक संतुलन बनता है। शाक्त उपाय प्रमुख रूप से मन, मस्तिष्क को साधने का उपाय है। ध्यान और मंत्र का इसमें बहुत

महत्व है। इसमें साधक शिव पर अपना सारा ध्यान केंद्रित करने का अभ्यास करता है। कंचुकाओं के नीचे वास्तविक सत्य को पहुंचने के लिए इस का महत्व है। शाम्भवोपाय साधना का तीसरा और सब से कठिन लेकिन प्रभावी उपाय है। इसमें साधक अपने मन में ही ध्यान केद्रित करके अपने भीतर परम शिव को अनुभव करने का प्रयास करता है। इधर–उधर भटकते मन को बार–बार वापस केंद्र में लाने और वहां स्थापित करने का ही यह अभ्यास है। साधक इस में तुर्या अवस्था का अनुभव करने लगता है। अनुपाय अंतिम चरण है जहां किसी उपाय की आवश्यकता ही नहीं रहती। साधक अपने–आप विश्राम की स्थिति में आ जाता है। यह मानवेतर अवस्था है जिसमें साधक की तुर्यातीत अवस्था रहती है।

तंत्र का ताना-बाना

शैव–दर्शन तंत्र से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है लेकिन तंत्र के बारे में कई तरह की भ्रांतियां भी प्रचलित हैं। इसलिए संक्षेप में यह समझना आवश्यक है कि तंत्र है क्या। अगर शाब्दिक अर्थ को ही लें तो तंत्र विस्तार को कह सकते हैं। संभवतः इस शब्द को कपड़ा बुनने की तकनीक से ही लिया गया होगा। यानी तंत्र का अर्थ है जिससे विभिन्न तत्वों को एक निश्चित क्रम में विस्तार दिया जाता है। वह साधन है जो जटिल विषयों की व्याख्या करता हैं। तंत्र आगम ग्रंथों से प्राप्त दैवी शिक्षा है जिसे परमशिव से प्राप्त किया गया है। तंत्र बताता है कि उसको पाने के साधनों में क्या उचित है और शक्तिपात और शुद्धिकरण के लिए क्या करना चाहिए, इसकी क्रमबद्ध शिक्षा देता है।

तंत्र में आगमों का बड़ा महत्व है। सामान्यतः सभी शैव और बौद्ध मानते हैं कि आगम सृष्टि के आरम्भ से ही प्राप्त ज्ञान भण्डार हैं। शैव इन्हें परमशिव से ही अवतरित ज्ञान मानते हैं। तिब्बत में मान्यता है कि आचार्य असंग को तुशित स्वर्ग से ही आगम अवतरित हुए और उन्हें इनका उपयोग करने का अधिकार मैत्रेय ने दिया। यह मैत्रेय कौन थे, इस पर आज बहस चल रही है। कुछ लोग उन्हें भावी बुद्ध भी कहते हैं तो कुछ एक सिद्ध।

शैवागमों के बारे में यह धारणा रही है कि आगमों का रहस्य सर्वत्र प्रकाशित करने के लिए नहीं होता, इसमें पात्रता का ध्यान रखा जाता है। तंत्रालोक की टीका में जयरथ ने लिखा है कि इसमें सभी भावों का पूर्णत्व है और अनंत शास्त्र तथा ज्ञान–विज्ञान विद्यमान है। लगता है कि आदि काल में यह गुरु–शिष्य परंपरा से चला होगा और बहुत बाद में ही इसका सार्वजनिक प्रकाशन हुआ होगा। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का कहना है 'आर्षज्ञान के मूल में भी आगम ही विद्यमान है। जिसको हम हृदय का स्वतःस्फूर्त प्रकाश समझते हैं उसमें भी वस्तुतः स्वतःस्फूर्त नहीं होता, उसके मूल में भी आगम ही होता है। महान बौद्धाचार्यों असंग और नागार्जुन और प्राचीन ऋषियों के ज्ञान और मंत्र साक्षात्कार की भी यही प्रणाली होगी।'

तंत्र ज्ञान को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है, यौगिक, शाक्त और अन्य। भारतीय ग्रन्थों में सबसे पहले तंत्र शब्द का उपयोग वेदों में ही किया गया। रहस्यवादी संतों या ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभवों के संकेत तो वैदिक युग में भी मिलते हैं। ऋषि की ऐसी अवस्था का वर्णन जिसमें वह हवा में तैरता हुआ महसूस करता है। मातृदेवियों की पूजा भी उसी युग में प्रचलित थी। शिव साधना की कई सीढ़ियां होती हैं। दीक्षा यानी ज्ञान पथ पर ले जाने के लिए गुरु की सहमति। गुरु के बिना तंत्र की शिक्षा नहीं होती। कुछ आरम्भिक चरणों के आगे गुरु से शक्तिपात के बिना साधना संभव नहीं होती। इसके पश्चात यौगिक साधना भी आवश्यक है। इसमें प्राणायाम, योगासन आदि शामिल हैं। मुद्रा, मंत्र, मंडल और यंत्र अन्य सीढ़ियां हैं।

तंत्र में अपनी काया को समझने का विधान है उससे भागने का नहीं। इसी संदर्भ में मांसाहार, मदिरापान और यौन सम्बंधों की पश्चिम में काफी चर्चा हुई है। कई तांत्रिक सम्प्रदायों में वामाचार का प्रचलन रहा है, लेकिन सामान्यतः जो व्यक्ति मांसभक्षी हो, नित्य मदिरा का पान करता हो और यौनाचार में लिप्त हो उसे 'पशुभाव' में पड़ा हुआ माना जाता है। पशुभाव में रहने वाले मनुष्य को स्वार्थी और हिंसक माना जाता है। तंत्र पशुभाव से बाहर निकालने और वीर भाव में लाने का आश्वासन देता है। इसके लिए कठिन उपायों का आदेश देता है।

जिनमें व्रत, ध्यान, ऐंद्रीय भोग पर नियंत्रण, योग आदि हैं, ताकि मन और तन का शुद्धिकरण हो और नकारात्मक भाव हट जाएं। ऐसा करने पर ही वह 'वीर भाव' में आता है जो कि कामनाओं से मुक्ति का भाव होता है। योगी की प्रिय मुद्रा वीर मुद्रा ही है।

तंत्र, मंत्र और यंत्र साधना के मुख्य अवयव हैं। तंत्र अर्थात दर्शन, मंत्र अर्थात दैवी शक्तियों का आमंत्रण और यंत्र यानी साधना के उपकरण या साधन।

यह तो स्पष्ट है कि जब काश्मीर में शैव—दर्शन का पुनरोदय हुआ उस समय से पहले से ही वह काश्मीर और देश के कई केंद्रों में प्रचलित था। तंत्र की प्राचीनता में किसी को संदेह नहीं है। इसी आधार पर कुछ विशेषज्ञ इसे वेद पूर्व की धारणा भी घोषित करते रहे हैं। उनके तर्क का आधार है सिंधु घाटी सभ्यता से प्राप्त अवशेषों में तांत्रिक साधना के संकेत मिलते हैं। उदाहरण के लिए मातृ—देवी की पूजा। सिधु घाटी में संभवतः और भी कुछ प्रमाण होंगे जिनसे यह कहना संभव होगा कि वे लोग तांत्रिक साधना के बारे में जानते थे। इसे वेद पूर्व इस आधार पर कहा गया है कि पश्चिमी इतिहासकारों ने आर्यों के आक्रमण और बाहर से आकर यहां बसने की कल्पना कर ली थी जो अब नए तथ्यों पर खरी नहीं उतरती। सिंधु घाटी सभ्यता में कई ऐसी बातें हैं जिनके आधार पर उस सभ्यता को वैदिक भी कहा जा सकता है। यज्ञ वेदियों से लेकर औपनिषदिक सूत्रों का चित्रण इस बात का संकेत करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन के आधुनिक विद्वान और तपस्वी स्वामी लक्ष्मण जू के अनुसार काश्मीर शैव दर्शन 94 तंत्रों पर आधारित है जिन्हें आगम भी कहते हैं। आगम वे ग्रंथ हैं जिन्हें स्वयं शिव ने ही कहा है। इन तंत्रों में से 64 तो शुद्ध रूप से अद्वैत तंत्र हैं, 18 द्वैताद्वैत हैं और 10 शुद्ध रूप से द्वैत तंत्र माने जाते हैं।

त्रिक शैव—दर्शन अद्वैत तंत्र पर आधारित है। त्रिक का आशय नर, शक्ति और शिव के सम्बंधों से है। लक्ष्मण जू ने 1971 में शैव—दर्शन पर कई भाषण दिए जिनसे भारत में ही नहीं विदेशों में भी शैव—दर्शन बौद्धिक विचार—मंथन का विषय बना। इन्हें बाद में एक पुस्तक के रूप

में प्रकाशित किया गया। यह स्पष्ट है कि अद्वैत शैव–दर्शन के पुनरोदय के समय तीनों विचारों, यानी द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत का किसी ना किसी रूप में प्रचलन था। कलियुग में शिव द्वारा जिस समय दुर्वासा को फिर से शैव–दर्शन को प्रचारित करने का आदेश हुआ था उस समय भी दुर्वासा ने अपने मानस–पुत्रों को इन्हीं तीन मार्गों के बारे में बताया था।

वसुगुप्त के समय भी कई प्रकार के शैव सम्प्रदाय काश्मीर में थे जिनमें वे भी थे जिन्हें सामान्यतः कापालिक कहा जाता है। जो प्रचलित मान्यताओं और आचार के विरुद्ध विद्रोही बन कर वामाचार को सही मानते थे। कहा जाता है कि महाकाली कापालिकों की अधिष्ठात्री देवी थीं। वहीं से वह अन्य शैव सम्प्रदायों में सम्मिलित हुईं। इनके साथ ही कुछ तांत्रिक मार्ग ऐसे भी थे जिनको बाद में अभिनवगुप्त ने अपने त्रिक–दर्शन का भाग बनाया। क्रम और कुल दोनों प्राचीन परंपराएं रही हैं। कापालिक का आधार भैरव तंत्र माना जाता है। कुल और क्रम पर इन परम्पराओं का प्रभाव रहा होगा जो कालांतर में घटता गया। क्रम तांत्रिक और शाक्त परंपराओं में समन्वय करने वाली परंपरा बन गई।

बौद्धों ने तंत्र को आरम्भ में ही अपनाया था, लेकिन महायान में बुद्ध को लोकोत्तर बनाने के पश्चात बौद्ध तंत्र में भी परिवर्तन आया। तिब्बत में गुरु पद्मसम्भव को तिब्बत में आसुरी शक्तियों को नष्ट करने के लिए ही आमंत्रित किया गया था। वे भारत के उत्तर–पश्चिम के एक सिद्ध थे जिसे तिब्बत में रिम्पोचे भी कहा जाता है। तांत्रिक शक्तियों का उपयोग करते हुए गुरु ने आसुरी शक्तियों को समाप्त तो नहीं किया, लेकिन उन्हें धर्म के काम में लगाने का सरल मार्ग निकाला। तिब्बत और लद्दाख में वज्रयान को स्थापित करने का श्रेय पद्मसंभव को ही जाता है।

तंत्र कालांतर में चमत्कारिक शक्तियों के ही अर्जन का साधन बन कर रह गया था। बौद्धों में भी तंत्र साधना का मुख्य मार्ग रहा है। वे मानते हैं कि वैदिक योग सभी मलों को नष्ट नहीं करता जबकि तांत्रिक योग से कोई मल नहीं बचता।

शैव दर्शन के मुख्य बिंदु

शैव दर्शन की निम्न विशेषताएं हैं जो उसे दूसरे दर्शनों से अलग करती हैं।

एक— शिव अपनी आनंदमय अवस्था में स्थिर नहीं बैठता, वह अपना विस्तार करना चाहता है। इसके लिए वह शक्ति रूप में सामने आता है। शक्ति भी उसी का रूप है और उसी पर आश्रित है। इसलिए जो शक्ति ब्रह्मांड की रचना में सहयोगी है वह रचना भी शिव के ही आदेश से होती है। निम्न कोटि का होने पर भी जीव के अंतर में शिव ही है। शिव ने जीव को अपने ही लघु रूप में बनाया है। तो फिर वह शिव या परम—चैतन्य से भिन्न नहीं हो सकता है। इसलिए शैव इस संसार में व्याप्त वस्तुओं और पुरुषों को प्राप्त इंद्रियों के सुख को त्याज्य नहीं मानते। इनके बीच से चलकर ही पुरुष को परमशिव तक पहुंचने का मार्ग मिल सकता है। इंद्रिय सुख का त्याग या वैराग्य शैव धर्म में आवश्यक नहीं है।

दो— इसी तर्क से दूसरी विशेषता भी निकलती है। शिव साधना के लिए किसी जाति की पात्रता नहीं चाहिए, कोई भी उस परम—अवस्था को प्राप्त हो सकता है और वहां पहुंचने का अधिकारी है क्योंकि अगर शिव ही सबके अंतर में है तो वह किसी में कनिष्ठ और किसी में वरिष्ठ कैसे हो सकता है? अभिनवगुप्त के ही शब्दों में— ओ मेरे साधकों ! परम भैरव के इस पथ पर शुद्ध मन से जिसने भी कदम बढ़ाया है, वह कदम मंथर है या तीव्र, वह ब्राह्मण का है या झाड़ू लगाने वाले का, वह अस्पृश्य का है, या वह किसी का भी हो, वह परमशिव के साथ मिलन की ओर ही जाएगा।

तीन— परमशिव तक पहुंचने या परम—चैतन्य में विलीन होने के लिए साधना पथ में तांत्रिक साधना की महत्ता शैव धर्म में है। यद्यपि तंत्र शैवों की देन नहीं है। ईसा से भी पहले से तंत्र साधना के संकेत मिलते हैं। स्वयं अभिनवगुप्त ने भी माना है कि उस समय कई प्रकार के आचार प्रचलित थे। उनमें वेद और शैव के अतिरिक्ति दक्षिण और वाम के भी उल्लेख है। ये दोनों तंत्र से जुड़े हैं। अभिनवगुप्त के समय तंत्र साधना में वामाचार का कितना प्रभाव था कहना आसान नहीं। कुछ

गुह्य समाज तो थे ही, लेकिन स्वयं दक्षिणमूर्ति कहलाने वाले अभिनवगुप्त अपने–आप को वाम आचार का नहीं मानते थे। लेकिन पश्चिम में शैव धर्म के साथ वामाचार को जोड़ने से उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से वहां जो अवास्तविक छवि बना दी गई है, उससे तंत्र मुक्त भोग का ही मार्ग हो गया है।

शैव–दर्शन ने बहुत से तर्क और धारणाएं और दर्शनों जैसे सांख्य, योग और न्यायिक से ली हैं तो कुछ प्रभाव उसने बौद्ध दार्शनिकों से भी स्वीकार किया है। इस मायने में यह मध्यकाल के अन्य महान दर्शनों, शंकर के अद्वैतवाद और बौद्ध दर्शन का प्रतिस्पर्धी न होकर सहयोगी दार्शनिक पथ ही रहा।

चार– यूं तो शैव दर्शन चार स्तम्भों स्पंद, क्रम, कुल और प्रत्यभिज्ञा पर खड़ा माना जाता है लेकिन दार्शनिक स्तर पर शैव दर्शन के दो महत्त्वपूर्ण आधार स्तम्भ हैं। स्पंद और प्रत्यभिज्ञा। वसुगुप्त के नाम से प्रचलित स्पंद परंपरा पूरे ब्रह्मांड में चर या अचर सभी प्रकार के पदार्थ को देखने–समझने का एक मौलिक सिद्धांत हैं। यद्यपि यह ज्ञान वसुगुप्त को शिव–सूत्र के माध्यम से हुआ लेकिन इसकी समझ लोक में तब तक नहीं बनी जब तक कि उनके प्रतिभाशाली शिष्यों ने इस सिद्धात की व्याख्या नहीं की। वसुगुप्त के ही स्पंद कारिका और भैरव तंत्र को इस सिद्धांत का प्रतिनिधि ग्रंथ माना जाता है। स्पंद का अर्थ स्पंदन यानी गति या कम्पन होता है लेकिन यह कम्पन किसका या किसमें होता है ? वसुगुप्त मानते हैं कि पूरी चेतना ही एक प्रकार का स्पंदन है, यह दैवीय हृदय में धड़कन से पैदा होने वाला स्पंदन है। दूसरे शब्दों में यह परम–चैतन्य का ही अनुभव कराने वाला कम्पन है। इसलिए सब कुछ स्पंदन है चाहे वह सृष्टि का भौतिक जगत हो या परमशिव का चैतन्य। इसे चित और उसका स्वातंत्र्य, उसकी क्रियाशील ऊर्जा यानी विसर्ग, उसका प्रकाश सागर यानी हृदय और प्रकाशमय चैतन्य यानी चिदानंद इसी स्पंदन के माध्यम से भाषित होते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन शिव की ओर जाने वाली यात्रा का अंतिम पड़ाव है। शिव जीव की आत्मा के भीतर वास करता है। वह कहीं गया नहीं

है लेकिन हम नहीं पहचान पाते। जब हम अपने मन को इस स्थिति में पहुंचाते हैं कि हम उसे पुनः पहचानने की स्थिति में आ जाएं तो इसके लिए किसी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। यह अनुपाय से और अनायास ही प्राप्त होता है। जो हमारे पास था उसे हमने पहचान लिया। कुल और क्रम तो साधना के पड़ाव है जो साधक के लिए उस अवस्था तक पहुंचने में आवश्यक हो सकते हैं। लेकिन बिना स्पंद विज्ञान को आत्मसात किए कोई भी मार्ग उस अवस्था तक नहीं पहुंचा सकता है जो तुर्या से भी आगे है।

स्वातंत्र्य शैव–दर्शन की अनोखी धारणा है। परम–चैतन्य ऊर्जा अपने–आप में स्वतंत्र है, किसी के वश में नहीं। सभी जीव भी इस परमसत्ता के भागीदार है। अपनी चेतना के अनुपात में पुरुषों में भी दैवी स्वतंत्रता की इच्छा होती है। यह हो सकता है कि वे अपनी इस क्षमता से अनजान हों। हम सब मनुष्य परमशिव की चेतना के भागीदार हैं। इसलिए उस स्वातंत्र्य के भी। इसलिए शैव साधना का उद्देश्य उसी दैवी स्वातंत्र्य की प्राप्ति की साधना है। लेकिन काश्मीर शैवदर्शन का मानना है कि बिना समर्थ गुरु के शैव–दर्शन की सही शिक्षा नहीं हो सकती है। तंत्र साधना को बिना गुरु के संभव नहीं माना जाता। गुरु द्वारा प्राप्त शक्तिपात के बिना आगे की साधना नहीं होती और शक्तिपात केवल गुरु के माध्यम से शिवानुग्रह ही है।

पांच– स्वयं अभिनवगुप्त ने इतने सारे आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया क्योंकि उन्हें विश्वास था कि केवल शब्दजाल को ज्ञान–प्राप्ति नहीं कहते। अच्छे गुरु के महत्व को बताते हुए उन्होंने तंत्रालोक की आवश्यकता पर लिखा 'गुरु कहलाने वाले बहुत से अज्ञानी लोग हैं जो स्वयं भी दिग्भ्रमित होते हैं और अपने बड़बोलेपन के बंधनों से अपने–आप को ही बांध चुके होते हैं। इस प्रकार अपने गुरुओं के बोझ को ढ़ोने वाले अंधभक्तों को देखकर ही मैंने ज्ञान का यह त्रिकोण रचा है ताकि वे अपने बंधनों को काट कर फेंक सकें।

भारतीय दर्शनों की प्रयोगशाला

शंकराचार्य को कुछ आलोचकों ने प्रच्छन्न बौद्ध कहा है तो कुछ आलोचक उन्हें छद्म शैव भी कहते रहे हैं। किसी ऐसे विद्वान को बौद्ध कहना जो बौद्ध–दर्शन के लिए सबसे बड़ी चुनौती सिद्ध हुए और जिन्हें भारत से बौद्धों का प्रभाव समाप्त करने के लिए उत्तरदायी माना जाता हो कुछ अटपटा तो लगता ही है, लेकिन महत्वपूर्ण भी लगता है। बौद्ध शायद वे इसलिए लगते हैं कि उन्होंने वेदांती सन्यासियों को समूहबद्ध कर दिया। बौद्ध संघों की तरह उन्हें भी अलग–अलग मठों में रहने की व्यवस्था बना दी, जहां वे उसी प्रकार कठोर अनुशासन में रहने लगे। ये मठ और अखाड़े अब तक विधिवत चल रहे हैं और शंकराचार्य की स्थापित व्यवस्था जीवित है।

यह संभव है कि शंकराचार्य को यह अनुभव हुआ होगा कि इन संघों के कारण ही विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों में एकता बनी रहती है और ये संघ और विहार ही उनकी शक्ति हैं। शायद उन्होंने संघों की तरह मठ और आश्रम बनाने और संन्यासियों को समूहबद्ध करने का विधान बनाया हो। संन्यासियों के समूहों में रहने की परंपरा केवल बौद्ध परंपरा नहीं थी कुछ गैर बौद्ध समूह भी उस समय समाज में थे। कुछ इतिहासकारों के अनुसार शंकर ने कुछ समूहों को अपनाकर अपने उद्देश्य के लिए परिवर्तित किया लेकिन इसी से वे छद्म बौद्ध कैसे बन जाते हैं ? प्रछन्न बौद्ध तो वे तब होते जब अपने दार्शनिक तर्कों में बौद्ध सिद्धांतों को ज्यों का त्यों अपनाया होता या तोड़–मरोड़कर अपना बताया होता।

सच तो यह है कि कई बातों में बौद्ध दार्शनिकों ने भी वेदांत के बहुत से तर्क अपनाए हैं या सांख्यदर्शन का सहारा लिया है। आत्मा निर्गुण है, यह वेदांत की मूल मान्यता है लेकिन जब बौद्ध शास्त्रकार मैत्रेयनाथ के सूत्रों पर टीका लिखते समय एक और बौद्ध विद्वान असंग कहते हैं कि 'आत्मा अपने मूल में नैरात्म्य में विलीन है' तो इसका अर्थ भी वही होता

है। प्रसिद्ध बौद्ध इतिहासकार आचार्य नरेंद्र देव को लगता है कि 'नार्गाजुन की दृष्टि से प्रस्थान करके एक अनजान मोड़ पर हम शंकर के अद्वैतवाद की चौखट पर पहुंच जाते हैं। बुद्ध ने कई प्रश्नों को अनुत्तरित ही छोड़ा था, जिससे आगे के बौद्ध आचार्यों के लिए तर्क खोजने की आवश्यकता आ पड़ी। असंग के सामने प्रश्न था कि क्या बुद्ध एक हैं या अनेक। उनका तर्क है कि एक नहीं हो सकते, अनेक भी नहीं माने जा सकते हैं। इसके लिए वे जो उदाहरण देते हैं वह अद्वैतवादियों का चिर–परिचित उदाहरण है। उपनिषदों का दृष्टांत है कि नदियां जब तक अलग–अलग होती हैं उनका फल और विस्तार भी अलग–अलग ही रहता है। जब समुद्र में मिलतीं हैं तो एक हो जाती है।

योग का भारत के हर दर्शन, वेदांत, बौद्ध या शैव में महत्व रहा है। बौद्ध परंपरा में तो योग का व्यापक विवरण दिया गया है, विभिन्न यानों में सामान्य से लेकर षड़ांग और हठ सभी प्रकार के योग की विधियां बताई गई हैं। यौगिक क्रियाओं के बिना न तो बौद्ध साधना हो सकती है और न ही शैव साधना। परमशिव तक पहुंचने के मार्ग में जो पड़ाव निर्धारित किए गए हैं उनमें क्रिया यानी योगासन जिनमें हठासन भी शामिल है और प्राणायाम और ध्यान आदि आवश्यक माने गए हैं। इन्हें साधना के अगले चरण में पहुंचने के लिए अनिवार्य माना गया है।

पतंजलि के अनुसार योग इंद्रियों का निग्रह होता है। यानी इंद्रिय सुख का निषेध करने से ही माया के मोह से मुक्त हो सकते हैं। लेकिन माया से न भागने की मान्यता के बावजूद शैवों को वेदांतियों की इस बात से कोई विरोध नहीं लगता कि योग का उद्देश्य कामनाओं से मुक्ति पाना है, क्योंकि जब शैव गुरु से शक्तिपात प्राप्त करता है तो उसे पहला काम अपनी इंद्रियों को नियंत्रित करने का ही करना होता है। यौगिक आसन और हठयोग जैसे साधनों का उपयोग 'कामनामुक्त' होने में ही है। इस अवस्था में पहुंचने के पश्चात ही साधक अंतिम चरणों में पहुंचने की आशा कर सकता है।

कुछ लोगों का शंकराचार्य पर एक आरोप इस प्रश्न से जुड़ा है कि क्या

शंकराचार्य तंत्र के विरोधी थे कि नहीं। अगर तंत्र का उनके अद्वैतवाद में कोई स्थान नहीं तो उनके मठों में जो कर्मकांड होता है उसमें तंत्र का समावेश कैसे है? वास्तव में शंकराचार्य के बारे में कई भ्रांतियां हैं। आदि शंकराचार्य शिव या शैव विरोधी नहीं थे। अपनी आरम्भिक शिक्षा या दीक्षा भी उन्होंने जिस गुरु से ली थी वे शैव परंपरा के ही विद्वान थे। उनकी अपनी 'सौंदर्य लहरी' भी तांत्रिक साधना से जुड़ी है। जैसा पहले बताया गया है, तंत्र का पहला उल्लेख भी ऋग्वेद में ही हुआ था।

वस्तुतः शंकराचार्य दो स्तरों पर काम करने पर विवश थे। वे केवल एक साधारण दार्शनिक ही नहीं थे, उन पर पूरे देश में वेद विरोधी भावना से लड़ने का उत्तरदायित्व था। इसलिए साधारणजन के लिए कई बातें उन्होंने मान ली थीं जिनको वे दार्शनिक स्तर पर स्वीकार नहीं करते थे, जैसे देव पूजा को लें। अद्वैतवाद में ब्रह्म की साधना और जीव के बीच विभिन्न प्रकार के देवी–देताओं का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। शंकर मानते थे इससे व्यक्ति और ब्रह्म के बीच किसी तीसरी शक्ति का समावेश होने का डर बना रहता है। लेकिन जो भक्त मन को उस सीमा तक नहीं साध सका हो उसके लिए मन को टिकाने के लिए देवी–देवताओं का पूजा–पाठ मन को स्थिर करने का पहला सरल उपाय हो सकता है। इसलिए संन्यासियों के लिए तंत्र साधना की अनिवार्यता रहने के बावजूद सामान्य भक्तों के लिए उस पर कोई आग्रह नहीं किया गया है। हमें यह याद रखना होगा कि प्राचीन काल से ही तंत्र योग के साथ जुड़ा रहा है। बौद्ध इसे तंत्र योग ही कहते हैं।

क्या शैव धर्म और वेदांत के लक्ष्य भिन्न–भिन्न हैं? मोक्ष या मुक्ति वेदांत के अनुसार साधक का लक्ष्य होना चाहिए। मुक्ति ब्रह्ममय होना ही है। शंकराचार्य अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए माया को भेद कर जाना चाहते हैं क्योंकि माया को वे एक अवरोधक मानते है जो ब्रह्म तक पहुंचने नहीं देती। ऐसा नहीं है कि शैव माया को अवरोधक नहीं मानते। पांच कंचुकाओं की बाधा तो शैवों के लिए महत्वपूर्ण है लेकिन शैवों का तर्क है कि अगर माया भी ब्रह्म की ही लीला है तो उसे ब्रह्म से

अलग क्यों माना जाए। उसका भी अनुभव किया जाना चाहिए। यानी मुक्ति के बाद ब्रह्म की लीला यानी सृष्टि या इस ब्रह्मांड का व्यापक अनुभव भी तो ब्रह्म का ही अनुभव है। उससे वंचित क्यों रहना चाहिए? इस संदर्भ में शैवाचार्य देवब्रत सेनशर्मा का कहना है कि ऋग्वेद में एक प्रसिद्ध मंत्र है जिस का सरल अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है– "समीर बह रहा है और आनंद का विस्तार कर रहा है, जल से आनंद फूट रहा है, पूरा ब्रह्मांड आनंद विभोर है।" उन्हें यह अधिक व्यापक विचार लगता है। सारी सृष्टि का दैवीकरण करना और निसर्ग का अनुभव करना। उसको एक रूप करना। शैव भी यही चाहते हैं। शंकर का दर्शन तीन मुख्य बिंदुओं पर आधारित है–

1. परमार्थिक सत्ता यानी ब्रह्ममन

2. व्यावहारिक सत्ता यानी चर–अचर के लिए अनुभाविक

3. प्रतिभासिक सत्ता यानी अपने भीतर ब्रह्म या सत्य की पहचान।

शारदा देवी का सर्वज्ञता पीठ

इससे लगता है कि वेदांत और शैव निर्गुण, निराकार, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के बीच सम्बंधों के दो आयाम हैं। कुछ लोगों ने शंकराचार्य को भी शिव के अवतार के रूप में मानना आरम्भ किया। यह महत्वपूर्ण बात है कि अधिकतर शंकर मठों और अखाड़ों का सम्बंध विष्णु से अधिक शिव से है। शायद इसी लिए मुस्लिम आधिपत्य के बाद जो कुछ काश्मीर में दार्शनिक रूप समाज में मुहावरों किंवदतियों और रहस्यवादी काव्य में बचा रहा उसमें कहीं शैव तो कही वेदांत के तत्व घुले–मिले हुए मिलते हैं। महत्वपूर्ण है कि अभिनवगुप्त से दो शताब्दी पश्चात स्वयं शिव साधिका होने पर भी लल्लेश्वरी काश्मीरी पंडितों को मांसाहार पर खूब डांटती–फटकारती है। यहां वे इंद्रिय निग्रह की ही वकालत करती दिखाई देती हैं। मुस्लिम आधिपत्य से पहले काश्मीर में शैव, वेदांत और भागवत धर्मों का मिला–जुला प्रभाव था, जिसमें बौद्ध दर्शन की भी कहीं–कहीं झलक मिलती थी। काश्मीर दार्शनिक प्रयोगशाला रहा है जहां प्रतीक तो प्रकट है, पर दर्शन पुस्तकों और पांडुलिपियों में कैद है।

अभिनवगुप्त और शंकराचार्य समकालीन नहीं थे। जब शंकराचार्य अपनी दिग्विजय के दौरान काश्मीर आए थे तो शैव दर्शन पर काम तो आरम्भ हुआ था लेकिन इतना नहीं कि उसकी बहुत चर्चा रही हो। इसलिए शंकर और शैवाचार्यों के बीच बातचीत भले हुई हो लेकिन कोई विधिवत शास्त्रार्थ नहीं हुआ था, मगर उस समय भी शक्ति पूजा काफी प्रचलित थी। शारदा मण्डल की अधिष्ठात्री देवी शारदा के मंदिर में एक सर्वज्ञता पीठ थी जिसपर केवल महान दार्शनिकों या शास्त्रज्ञों को ही आसन दिया जाता था। शंकराचार्य पहले दक्षिण भारतीय आचार्य थे जिन्हें इस पर आसन प्रदान किया गया। लेकिन शंकराचार्य ने न तो काश्मीर में शैव मत का विरोध किया और न शक्ति पूजा से उन्हें कोई आपत्ति थी। यह केवल संयोग ही नहीं वास्तविकता भी है। देखा जाए तो आज भी जम्मू–काश्मीर में देव पूजा से कहीं अधिक शक्ति उपासना पूरे मनोयोग से हो रही है, वह चाहे वैष्णव देवी हो या क्षीर भवानी।

मतों और दार्शनिक आदान–प्रदान की इस विराट प्रक्रिया का एक बड़ा परिणाम यह भी निकला कि काश्मीर केवल दार्शनिक मार्गों की प्रयोगस्थली ही नहीं बना अपितु हर क्षेत्र में रचना प्रकिया अपने चरम पर पहुंच गई। इसी काल के आस–पास काश्मीर में संस्कृत साहित्य को कश्मीर ने बहुत कुछ दिया। पुराने साहित्य में काश्मीर की भूमिका के बारे में बहुत कम लोगों को जानकारी है। सामान्यतः नीलमत पुराण को ही काश्मीर से जोड़ा जाता है जो सम्भवतः चौथी शताब्दी में लिखा गया था। नाग जाति के बारे में जानकारी देने वाला एक पुराण वासुकी भी लिखा जा चुका था। महत्वपूर्ण है कि पुराने जम्मू क्षेत्र में भी लिखा गया विष्णुधर्मोत्तर पुराण। लेकिन ये सभी पांचवीं शताब्दी से पहले लिख गए थे। आठवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच इतिहास और व्याकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण रचनाएं हुई हैं।

कल्हण से पहले कई लेखकों ने इतिहास ग्रंथ लिखे। कुछ का उल्लेख तो कल्हण ने भी किया है। क्षेमेद्र और पमिहिर से तो कल्हन ने काफी सामग्री ली है। एक कवि बिल्हन ने तो दक्षिण के चालुक्य राजा विक्रमादित्य पर आधारित 'विक्रमांकदेव चरित' लिखा। काव्य शास्त्र के मामले में संस्कृत के अधिकांश आचार्य इसी शारदा क्षेत्र के थे। आठवीं और नवमीं शताब्दी के वामन, उदभट्ट और आनन्दवर्धन और दसवीं में अभिनवगुप्त। कथा साहित्य में सोमदेव का कथा सरित्सागर सबसे लोकप्रिय ग्रंथ है जो आधुनिक युग में भी प्रचलित है और जिसका विश्व की अधिकतर भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। संस्कृत साहित्य की यह धारा कुछ समय आगे भी चलती रही लेकिन असहिष्णु वातावरण में सूख गई।

आज भी प्रासंगिक है अभिनव गुप्त

प्रश्न उठता है कि हजार वर्ष बीत जाने के बाद अचानक अभिनवगुप्त का राष्ट्रीय स्तर पर स्मरण करने का उद्देश्य क्या है। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य होने के अतिरिक्त अभिनवगुप्त और उनके शैव दर्शन की आज और क्या प्रासंगिकता है?

इतिहास किसी राष्ट्र या देश की स्मृति होती है। विस्मृत राष्ट्र की अपने मूल, युगों से संचित अपने ज्ञान भण्डार और अपनी निहित प्रतिभाओं की पहचान प्रतिकूल काल की परतों के नीचे दबी होती है। अभिनवगुप्त की ही भाषा में विभिन्न केंचुलियों (कंचुकाओं) के नीचे छिपी होती हैं। राष्ट्र का अतीत इन परतों में धुंधला और विकृत सा दिखाई देता है। अभिनवगुप्त ऐसे प्रतिभावान दार्शनिक और चिंतक थे जिन्होंने अनेक दार्शनिक मान्यताओं और साधना पद्धतियों का समन्वय करते हुए एक समग्र दर्शन प्रस्तुत किया, एक ऐसा दर्शन जिसने समाज को हजारों वर्ष से चली आ रही अतिरंजनाओं से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त किया जिनसे समाज तब प्रभवित था और आज भी किसी न किसी रूप में प्रभावित है। प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था को भले ही समाज को सुचारू ढंग से संचालित करने के लिए विकसित किया गया हो, लेकिन दिशाहीन अतिवाद के कारण ही इससे ऊंच–नीच जैसी धारणा भी विकसित हुई। अभिनवगुप्त ने शिव मार्ग पर चलने के लिए ब्राह्मण और शूद्र को समान स्तर पर रखकर आह्वान किया। साधना के लिए ऊंच–नीच के बीच अंतर समाप्त कर दिया।

इंद्रियों के सुख का निग्रह करके भौतिक जगत से मुख मोड़ने की धारणाओं ने ईश्वर तक पहुंचने का मार्ग ही सामान्य जन के लिए अवरुद्ध कर दिया था। मान्यता बन गई थी कि ईश्वर की साधना केवल विरक्ति से ही संभव है। लेकिन अभिनवगुप्त ने संन्यासी और गृहस्थ के बीच का अंतर ही समाप्त कर दिया। वे स्वयं जीवन भर सन्यासियों की तरह अविवाहित रहे लेकिन अपने भक्तों के लिए घर गृहस्थि से भाग कर साधना करने की बाध्यता नहीं रखी। अभिनवगुप्त जिन आचार्यों से सहमत नहीं थे उनसे खुल कर अपनी असहमति

व्यक्त करते थे, लेकिन वे महान आचार्यों की परम्परा को एकदम नकारने में विश्वास नहीं करते थे। अपने ग्रंथों मे ही उन्होनें ऐसे बीसियों आचार्यों का उल्लेख किया है। महान ग्रंथो को त्याज्य न मान कर अभिनवगुप्त ने उनकी अपनी प्रतिभा के बल पर नई व्याख्याएं की। कालिदास की भांति वे मानते थे कि कोई बात इसलिए सही या गलत नहीं होती कि वह प्राचीन है और न कोई बात इसलिए त्याज्य होती है कि वह नई है। प्राचीन शास्त्रों की उनकी परिभाषाएं नई परंम्पराएं बन गईं। अभिनवगुप्त के युग मे जैसी समस्याएं और चुनौतिया समाज के सामने थीं वैसी चुनौतियां बौद्धिक और भौतिक स्तर पर आज भी हमारे सामने हैं। इसलिए आश्चर्य नहीं कि अभिनवगुप्त का दार्शनिक चिंतन जैसा प्रासंगिक दसवी शताब्दी के लिए था वैसा ही प्रासंगिक इक्कीसवीं शताब्दी के लिए भी है।

जम्मू काश्मीर के बारे में अभिनवगुप्त की प्रासंगिकता इस अर्थ में भी है कि आज जम्मू काश्मीर के बारे में बहस और चिंतन का विमर्श बदलने की आवश्यकता है। प्राचीन शारदाखण्ड भारत का ऐसा सांस्कृतिक केंद्र रहा है जिसका स्पंदन देश के सुदूर प्रांत भी अनुभव करता रहा है। इस सांस्कृतिक, बौद्धिक और दार्शनिक प्रयोगशाला के निर्माण में देश के हर क्षेत्र के मनीषियों और विद्वानों का योगदान रहा है, चाहे वे दक्षिण के केरल और कर्नाटक के हों या पूर्व में असम और बंगाल के। या फिर गंगा–यमुना की घाटियों से आए हों। इसी प्रकार देश का शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा होगा जहां शारदाखण्ड की प्रतिभा प्रतिबिम्बित नहीं हुई हो। जब अभिनवगुप्त प्रत्यभिज्ञा पर बल देते हैं तो वे जीव के अंतर में विद्यमान शिव की पहचान की बात करते हैं। इसीलिए वे इसे ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कहते हैं लेकिन आज हमारे सामने, जन–जन के मन में बसे विराट राष्ट्र की प्रत्यभिज्ञा की बहुत बड़ी चुनौती है।

परिशिष्ट -1

स्वामी लक्ष्मण जू

एक सम्पन्न काश्मीरी पंडित परिवार में उत्पन्न लक्ष्मण की नियति में ही लिखा था कि उन्हें अपने पारिवारिक व्यवसाय में नहीं जाना है, और न ही अपने कश्मीरी पंडित समाज के सामान्य युवक की तरह पढाई करके सरकारी नौकरी करनी है। उसने न व्यापार सीखा और न किसी विश्वविद्यालय की डिग्री प्राप्त की। काश्मीर में उनके बारे में एक घटना प्रचलित है। नारायण जू रैना का एक बेटा था महेश्वर नाथ। उसके पश्चात एक के बाद एक लड़कियाँ पैदा होती गयीं। परिवार कम से कम एक और बेटा चाहता था लेकिन महेश्वर अठारह वर्ष का हुआ लेकिन भाई नहीं आया। तब नारायण जू को चिन्ता होने लगी कि दूसरा पुत्र पाने की कामना कभी पूरी नहीं होगी। फिर वे अपने गुरु श्रीराम के पास गए। श्रीराम शैव–दर्शन के ज्ञाता भी थे और अभिनवगुप्त के परमभक्त भी। स्वभाव से संत श्रीराम ने श्रीनगर में ही एक पाठशाला स्थापित की थी जिसमें शैव–दर्शन के विभिन्न सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती थी। गुरु श्रीराम ने नारायण जू की पत्नी को प्रसाद दिया और कहा कि इस बार पुत्र ही होगा। पुत्र हुआ तो श्रीराम नाचने लगे और नाचते–नाचते कहा कि 'मैं तो राम हूं और इसका नाम लक्ष्मण है।' इसे आदेश मान कर बच्चे का नाम लक्ष्मण ही रखा गया।

यद्यपि श्रीराम का मार्गदर्शन लक्ष्मण को बहुत समय तक प्राप्त नहीं हुआ। लक्ष्मण 1907 में पैदा हुआ था और श्रीराम 1914 में ही चल बसे। तब लक्ष्मण की आयु केवल सात वर्ष की थी, लेकिन लक्ष्मण इतने ही समय में यह सिद्ध कर चुके थे कि वह इस सांसारिक जीवन के लिए उत्पन्न हुए ही नहीं। तीन वर्ष का हुआ तो गायत्री मंत्र कंठस्थ हो गया था, पांच वर्ष होते–होते वह ध्यान लगाने लगा था और सात वर्ष की अवस्था में लक्ष्मण ने शैवशास्त्र का अध्ययन आरम्भ कर दिया। स्कूल में प्रायः वह अपने ही भीतर खो जाया करता था। एक बार अध्यापक ने पूछा कि तुम्हें इस तरह क्या दिखाई देता है तो बालक का उत्तर था।

'बड़े से बड़ा' यानी महान से महानतर सत्ता।

स्कूल की शिक्षा पूरी करने की नौबत आई ही नहीं। उसे पिता के कारोबार में लगाने की योजना बनी। उनके कारोबार के लिए बड़ी डिग्री की आवश्यकता नहीं थी। पिता नारायण रैना को लोग 'नाव नारायन' कहते थे, यानी नावों वाला नारायण। काश्मीर में विदेशियों के लिए झीलों में हाउसबोट रखने का चलन आरम्भ करने वाले नारायण जू पहले उद्यमी थे। लेकिन लक्ष्मण का जी नहीं लगा। एक दिन घर से भाग गए और हंदवारा में साद माल्युन में साधना करते पाए गए। साद माल्युन का अर्थ होता साधुओं का मायका। यहीं एक नदी साधुगंगा के किनारे उन्होंने अपने शिव को अपने मन में ही देखने का अभ्यास आरम्भ किया था।

माता–पिता के आग्रह पर श्रीनगर तो लौटे लेकिन निशात बाग के पास इशबर नाम के स्थान पर रहने लगे, जहां उन्होंने अपना साधना केंद्र बनाया। यह घर उनके परिवार वालों ने ही उनके लिए बनवाया था। साधना के साथ–साथ लक्ष्मण जू ने भारत भ्रमण आरम्भ किया। दरअसल वे अपने आराध्य अभिनवगुप्त की ही तरह विभिन्न साधना पद्धतियों को स्वयं देखना और समझना चाहते थे। वे गांधी जी के सेवाश्रम में भी गए, कुछ दिन रहकर उनके विचारों को समझने का प्रयास किया। फिर प्रसिद्ध दार्शनिक महर्षि अरविंद के आश्रम पांडिचेरी जा पहुंचे। वहां उनकी बात–चीत आश्रम की मुख्य साधिका मां से हुई। फिर दक्षिण जाकर रमण महर्षि से मिले। यहां उन्हें अपने बहुत से प्रश्नों का उत्तर मिला। स्वामी लक्ष्मण जू अपने यौवन से ही शैव दर्शन पर भाषण देते रहे थे। उन्होंने दर्जन भर पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें अधिकांश शैवशास्त्रों का हिंदी या अंग्रेजी अनुवाद है। उनकी सबसे चर्चित पुस्तक 'सिक्रेट सुप्रिम' है जो अभिनवगुप्त के तंत्रालोक के पहले पंद्रह अध्यायों की व्याख्या है।

परिशिष्ट -2

दक्षिण में शैव दर्शन

दक्षिण भारत में शैव दर्शन उत्तर भारत से आया जैसे बौद्ध और जैन धर्म आये। या स्थानीय रूप से ही विकसित हुआ आज भी विवाद का विषय है। प्रसिद्ध विद्वान वी.वी. रमन शास्त्री ने प्राचीन तमिल ग्रंथ तिरुमंत्रिम के ताजा संस्करण में लिखा है– जब आगम ग्रंथ उत्तर भारत से दक्षिण आए तो पश्चिम में वे वीरमहेश्वर के दर्शन की तरह दिखाई दिए और दक्षिण में शैव दर्शन की भांति। यह घटना उस समय से हजारों साल पहले की होगी जब कि दक्षिण में शैव आचार्यों ने अपने तिरुमंत्रिम में नौ तंत्रों को आगमों का महत्व प्रदान किया। आचार्य रमन के इस कथन को ऐतिहासिक रूप से सही माना जाए कि नहीं यह शोध का विषय है। लेकिन यह सच है कि दक्षिण में विधिवत शैव दर्शन के प्रचार से पहले ही शिव साधना भक्ति गीतों के माध्यम से आरम्भ हो चुकी थी। दक्षिण के शैव दर्शन की मुख्य विशेषता यह है कि वह या तो द्वैतवाद पर आधारित है या कहीं–कहीं द्वैताद्वैत का सहारा लेता है। जब कश्मीर से शैव दार्शनिकों का दक्षिण आना–जाना आरम्भ हुआ और शैव सिद्धांत के अनुसार दार्शनिक आधार प्रदान किया तब भी वह पूर्ण रूप से अद्वैतवादी नहीं था। यही कहा जाता रहा था कि शिव के साथ मिलन ऐसा ही है जैसे पानी में नमक का मिलना जो मिला हुआ भी है लेकिन फिर भी अलग–अलग है। दक्षिण में शैव मत ने अपना क्षेत्रीय स्वभाव बनाए रखा।

शिव वैदिक युग से ही तीन देवों में से एक थे। वेदों में उन्हें रुद्र कहा गया है लेकिन कई स्थानों पर रुद्र और शिव दोनों का उपयोग किया गया है। उन्हें पशुपति से भी सम्बोधित किया जाता रहा है। सिंधु घाटी के अवशेषों में पशुपति और नटराज शिव के ही रूप हैं लेकिन शिव को सर्वोच्च शक्ति या परम ब्रह्म मानने वाले वर्गों के रूप में पहली बार पाशुपतों का ही नाम आता है। पाशुपत जीव को पशु और शिव को पति के रूप में देखते थे। इस काल के दो ग्रंथ उपलब्ध हैं जिन में शिव

पूजा और उसके पीछे की एक विशेष दार्शनिक दृष्टि दिखाई देती है। गणकारिका और पाशुपत सूत्र में शिव तक जाने के पांच चरण बताए गए हैं। गुरु के सामने समर्पण के पश्चात मनुष्य को इन पांच चरणों से गुजरना होता है। एक है क्रिया अर्थात यह सृष्टि, दूसरा है कारण जिसके कारण सृष्टि बनी, यानी ईश्वर। तीसरा है योग अर्थात आत्मा और परमात्मा के बीच मिलन, चौथा चरण है विधि यानी साधना और पांचवां चरण दुखांत है जिसमें सभी दुखों का नाश होता है। यह द्वैतवादी सिद्धांत था जिसमें जीव अलग है और पशुपति अलग। यही भाव आगे चलकर शिव सिद्धांत में भी दिखाई देता है, हालांकि शैवों की मान्यता है कि शिव सिद्धांत से ही शैव दर्शन का आरम्भ हुआ है।

दो अन्य वर्गों को भी प्रायः साथ–साथ रखा जाता है, कापालिक और कालमुख। कापालिकों के बारे अधिकतर जानकारियां उन लोगों से मिली हैं जो स्वयं इस साधना में शामिल नहीं रहे। बाहर के लोगों विशेषकर पाश्चात्य जिज्ञासुओं के विवरणों में अधिकतर अतिरंजना ही है। इतना ही कहा जा सकता है कि कापालिक समाज में प्रचलित मान्यताओं और परंपराओं को नहीं मानते थे। कालमुख यानी कृष्णमुखी सम्प्रदाय के बारे में जो जानकारियां मंदिरों के चित्रों और शिलालेखों से मिली हैं, उनके अनुसार वे मठों में रहते थे और वैदिक परंपराओं के काफी निकट थे। लगता है वे सामूहिक सन्यास जीवन जीते रहे हों, उनपर पाशुपतों का भी प्रभाव दिखता है।

दक्षिण में शैव मत का विस्तार स्थानीय संत कवियों के कारण ही हुआ जो स्थानीय मुहावरों और परंपराओं का सहारा लेते हुए क्षेत्रीय बोलियों में कविता करते थे। नयनार तिरुमूलर सबसे पहले महत्वपूर्ण संत कवि थे। उनकी पुस्तक तिरूमंत्रिम दक्षिण में शिव सिद्धांत को जानने का प्राथमिक स्रोत है लेकिन मान्यता है कि यह इस परंपरा में दसवां ग्रंथ है। इन संत कवियों द्वारा रचित काव्य संग्रहों के ग्यारह खण्ड हैं जिनमें पहले सात खण्डों को आगम ग्रंथो का स्तर मिला है और उन्हें वेदों के समतुल्य माना जाता है।

दक्षिण में शैव दर्शन का सबसे प्रभावी रूप कर्णाटक में लिंगायतों का

है। यद्यपि इस परंपरा का आरम्भ भी ईसा से पहले हुआ बताया जाता है, लेकिन इसे गुरु बसवन्ना के कारण ही विस्तार मिला। ग्यारहवीं शताब्दी में बसवन्ना ने विशिष्टाद्वैतवाद को प्रस्तुत किया। यह मूलतः द्वैतवाद ही है जिसमें शिव और आत्मा को भिन्न बताया गया है। आत्मा का स्रोत है तो ईश्वर ही लेकिन वैसे ही जैसे सूर्य और किरणों का सम्बंध है वैसा ही शिव और आत्मा का है। शिव ही सृष्टि का रचनाकार है लेकिन वे स्वयं इससे परे हैं।

इसी क्रम में शिव–अद्वैतवाद भी सामने आया, जिसे श्रीकण्ठ ने प्रस्तुत किया। वे मानते हैं कि आत्मा अंत में शिव में ही विलीन नहीं होती लेकिन उनके आनंद और शक्तियों में सहभागी बन जाती है। वीर शिव या लिंगायत कर्णाटक में सबसे प्रचलित शैव सम्प्रदाय है। इसके आरम्भिक गुरु परंपरा में चार विचारकों का नाम लिया जाता है। रेनुका, दारुहा, घण्टकर्णा और विश्वकर्णा। वीर शैव अपने गले में एक शिवलिंग पहनते हैं ताकि सदाशिव हर समय शरीर के साथ रहे, दूर न हो। बसवन्ना स्वयं ब्राह्मण थे लेकिन मानते थे कि अपने व्यवहार से उन्होंने शास्त्रों का उल्लंघन किया है। वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध होने के कारण वे अंतरजातीय विवाह के पक्षपाती थे लेकिन ऐसी ही एक घटना के कारण उन्हें कल्याण से हटकर अपने आश्रम में लौटना पडा जो कर्णाटक में संगम नाम के स्थान पर था। लेकिन बसवन्ना ने जिस लिंगायत सम्प्रदाय का मार्ग दर्शन किया वह चिरस्थाई सिद्ध हुआ। आज भी यह कर्णाटक का मुख्य शैव सम्प्रदाय है।

परिशिष्ट -3

चचनामा और ललितादित्य

अलबीरूनी का पूरा नाम अबू रेहान मोहम्मद बिन अलबीरूनी था। वह मूल रूप से उज्बेक थे, लेकिन गजनी के महमूद के कहने पर उनके साथ भारत आए थे। अलबीरूनी पहले और आखिरी विदेशी विद्वान थे जिन्हें भारत के इतिहास के अतिरिक्त धर्म, दर्शन और विज्ञान की जानकारी थी। भारत के इतिहास में प्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त उनका ध्यान कुछ क्षेत्रीय राजाओं की ओर भी गया। शायद इसलिए वे जहां के रहने वाले थे काश्मीर के साथ उन देशों का काफी पुराना रिश्ता था। और इसलिए भी कि अलबीरूनी से हजार साल पहले केंद्रीय एशियाई गणराज्यों में बौद्ध धर्म पहुंच गया था।

वे कहते हैं कि मुझे बताया गया कि यहां काश्मीर का एक राजा था जिसने बहुत दूर–दूर तक अपना राज्य फैलाया था। खुरासान और बुखारा तक उनकी सेनाएं विजय प्राप्त कर चुकी थी। उनकी विजय को हर वर्ष काश्मीरी एक उत्सव के तरह मनाते हैं। अलबीरूनी ललितादित्य के दो सौ साल बाद आये। इसलिए स्पष्ट है कि तब तक ललितादित्य की स्मृति बची रही हो या अलबीरूनी ने किसी पुराने लेखक का लिखा वृतांत पढ़ा हो। ऐसा वृतांत एक लेखक काजी इस्माइल ने अरबी में लिखा था। इस्माइल मोहम्मद बिन कासिम के ही साथ सिंध आए थे। मोहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण 711 मे किया था यानी उस समय ललितादित्य काश्मीर के राजा थे और वे देश के विभिन्न भागों में विजय पताका फहरा रहे थे। इस्माइल की पुस्तक चचनामा सिंध का इतिहास है और इसमें मोहम्मद बिन कासिम के राजा दाहिर पर विजय का विशेष उल्लेख है। पहले के राजा चच से आरम्भ करने के कारण चचनामा नाम रखा गया है। स्वाभाविक है कि लेखक को इस युद्ध के बारे में व्यक्तिगत जानकारी रही होगी।

अलबीरूनी के समय तक अरबी पुस्तक देश में उपलब्ध रही होंगी क्योंकि तब तक इसका फारसी में अनुवाद नहीं किया गया था।

अनुवादक मोहम्मद अली बिन हाकिम बिन अबू बक्र कूकी ने इसका अनुवद 1216 ई. में किया। चचनामा में ललितादित्य का अलग से उल्लेख नही है, उनका उल्लेख राजा दाहिर के एक पत्र के संदर्भ में आता है जो उन्होंने मोहम्मद बिन कासिम को लिखा था। अरब सेनाओं के आगे बढने के साथ ही दाहिर समझ गए होंगे कि उनकी हार निश्चित है। उन्होंने एक पत्र में मोहम्मद बिन कासिम को बताया कि काश मैंने समय रहते अपने मित्र काश्मीर के राजा ललितादित्य को मदद के लिए बुलाया होता। 'काश्मीर के राजा जिसके द्वार पर हिंदुस्तान के राजा अपना मस्तक रखते हैं, पूरे हिंद और सिंध में ही नहीं, तूरान और कामरान तक उनके आदेशों को शासक अपने गले के हार की तरह पहनते हैं। उसने तुम्हें ऐसा पाठ पढ़ाया होता कि प्रलय काल तक भी कोई सेना इस क्षेत्र में प्रवेश करने का साहस नहीं करती।' चचनामा में कभी–कभी अतिरंजना का भी उपयोग किया गया है लेकिन मूल तथ्य की अवहेलना मूल लेखक नहीं कर सकता था क्योंकि वह मोम्मद बिन कासिम के साथ था और इस युद्ध का चश्मदीद गवाह था।

परिशिष्ट -4

सूया का नदी शोधन

अवंती वर्मन के राज्य मे धन की कमी नही थी लेकिन धान्य की कमी थी। बताया जाता है कि धान की एक खार्य सोने के भाव मिलती थी। खार्य वैदिक युग का माप था जो काश्मीर में अब भी प्रचलित है और इसे खार कहते हैं। यह दो मन यानी चालीस सेर के बराबर होता है। अन्नाभाव का कारण बंजर या अनुपजाऊ भूमि नहीं थी, अपितु हर वर्ष आने वाली बाढ़ हुआ करती थी। श्रीनगर के बीच से बहने वाली वितस्ता, जिसे झेलम भी कहते है उफान पर आती थी और दोनों किनारों को लांघ कर दूर–दूर तक खड़ी फसल को नष्ट करती रहती थी। नदी का पानी श्रीनगर से लगी हुई दो झीलों में चला जाता था और नदी किनारे की सारी फसलों का भी नष्ट करती रहती थी। यह बाढ़ ठीक उसी समय आती थी जब खेतों में फसल कटने को तैयार हो।

काश्मीर घाटी में तब भी साल में एक ही फसल उग पाती थी क्योंकि जाड़ा आने पर फसलें नहीं पकती। इसका परिणाम यह निकलता था कि लगभग पूरे राज्य में अकाल की सी स्थिति पैदा होती थी। राजा ने कई उपाय किए, कई स्थानों पर बांध भी बनवाए लेकिन समस्या दूर नहीं हुई। एक दिन राजा के दरबार में एक ब्राह्मण उपस्थित हुआ। उसने कहा कि वो नदी को शांत करके मर्यादा में रखने का उपाय जानता है। राजा ने उसे पूछा कि तुम तो एक ब्राह्मण हो, जब बड़े–बड़े विशेषज्ञ कुछ नहीं कर पाए तो तुम क्या करोगे। उस ब्राह्मण ने कहा कि राजन मुझ पर विश्वास कीजिए यदि मैं नहीं कर पाया तो आप जो चाहें दण्ड दे सकते हैं।

राजा तो समस्या से त्रस्त था उसने मान लिया। ब्राह्मण जिस का नाम सूया था, प्रातः सवेरे ही नगर के आरम्भ में ही नदी के किनारे जा पहुंचा। पहले से ही मुनादी की गई थी कि सूया वितस्ता को शांत करने जा रहे हैं। जब लोग कौतूहलवश नदी किनारे पहुंचे तो उन्हें देखकर आश्चर्य हुआ कि सूया नाव में बैठ कर एक मटके से सोने की मोहरे निकाल–निकाल कर लोगों का दिखा रहे हैं। लोगों की समझ में

नही आ रहा था कि वह ऐसा क्यों कर रहा था। लेकिन सूया ने लोगों के देखते–देखते जो किया उस से लोग थोड़ी देर के लिए अचम्भित हो गए। कुछ लोगों को लगा कि यह ब्राह्मण पागल हो गया है तो कुछ उसे ठग मानने लगे।

सूया लोगों की प्रतिक्रिया की चिंता किए बिना सोने के सिक्कों को मटके से निकालकर पानी में इस तरह फेंक रहे हैं जैसे मछलियों को दाना फेंक रहे हों। थोड़ी देर तक तो लोग आश्चर्य से देखते रहे, लेकिन शीघ्र ही लोभ ने वश में कर दिया। दो चार लड़के पानी मे कूद पड़े और सोने के सिक्के खोजने लगे। सिक्के खोजने के लिए उन्हें पानी से मिट्टी निकाल–निकाल कर किनारे पर डालनी पड़ रही थी। जब औरों ने देखा कि लड़कों को दो–चार सिक्के मिल गए तो सैंकड़ों लोग कूद पड़े। बहुत से लोगों ने नावों का भी प्रबंध कर लिया और मिट्टी को किनारों पर उलट देते और सिक्के छांट लेते। सूया इन सब बातों से जैसे अनजान से अपनी नाव में धीरे–धीरे नीचे की ओर चलते गये और लोगों की भीड़ उनके पीछे–पीछे नदी से मिट्टी निकाल–निकालकर किनारे पर डाल रही थी। सूया ने एक मटका बिना खोले ही पानी में डाल दिया था। शाम को जब वह राजा के पास गए तो राजा ने पूछा कि तुमने क्या किया? तो सूया ने कहा कि महाराज नदी का उदरशोधन करना था। आप लोगों से कहते कि वे यह काम करें तो वे नहीं करते, लेकिन राजाज्ञा से ताकतवर है लोभ की प्रेरणा जो उन्हें नदी में कूदने के लिए प्रेरित करती रही। कल प्रातः जब नगर से बाहर दूसरा मटका पानी के ऊपर से ही दिखाई देने लगेगा तो मान लीजिए कि नदी का पेट साफ हो गया है। सचमुच पानी का स्तर प्रातः तक कई हाथ नीचे चला गया था। यही काम उन्होंने सिंधु नदी में भी किया जो उत्तर काश्मीर से आकर शादीपुर में वितस्ता के साथ मिलती है। आधुनिक विज्ञान ने ड्रेजिंग की तकनीक हजारों साल पश्चात विकसित की, लेकिन सूया ने अपने ही ढ़ंग से नदी के प्रवाह के अवरोध के कारण को समझ लिया था। इस काम से ना केवल जलमग्न क्षेत्र पानी से बाहर आए अपितु बाढ़ का खतरा भी टल गया। पानी से बाहर आए एक क्षेत्र का नाम सूयापुर रखा गया जो अब सोपोर कहलाता है। इस क्रिया से धान का मूल्य पहले की तुलना में दशांश रह गया।

परिशिष्ट –5

गिलगित पांडुलिपियां

1931 के जुलाई मास में गिलगित के पास एक गांव में कुछ चरवाहों को एक बौद्ध स्तूप के अंदर कुछ दस्तावेज मिले जो भोज पत्र पर लिखे थे। गड़ेरिये अक्सर इन बौद्ध स्तूपों में कुछ काम की वस्तुएं खोजने जाया करते थे। उन्हें भी यह समझ में आया कि ये पांडुलिपियां महत्वपूर्ण हो सकती हैं। वे उन्हें स्थानीय वजीर ययानीद महाराजा के प्रतिनिधि के पास ले गए। देश की आजादी से पहले गिलगित जम्मू–कश्मीर रियासत का अंग था, जहां महाराजा का ही वजीर वजारत मुख्य प्रशासक हुआ करता था। वहां से इन पांडुलिपियों को श्रीनगर महाराजा के पास भेज दिया गया। काश्मीर के पुरातत्व विभाग की प्रारम्भिक परीक्षा से पता चला कि ये प्राचीन पांडुलिपियां ऐतिहासिक महत्व की हो सकती हैं। उनमें से कुछ का सामान्य अनुवाद करने का प्रयास किया गया। 1948 तक ये कश्मीर पुरातत्व विभाग के ही अधिकार में रही लेकिन पाकिस्तान के हमले के समय भारत सरकार को लगा कि ये दस्तावेज खतरे में पड़ सकते हैं और उन्हें दिल्ली अभिलेखागार में लाया गया। लेकिन इस बीच कुछ और पांडुलिपियां प्राप्त हुई थी। उनमें से कुछ अब भी कश्मीर में ही हैं। अब इन पांडुलिपियों का भारत सरकार ने प्रकाशन भी कर दिया है, इन्हें 'गिलगित पांडुलिपियां' कहते हैं।

इन पांडुलिपियों से कछ महत्वपूर्ण बातें सामने आई हैं। इनमें प्रमुख रूप से बौद्ध महायान सम्प्रदाय के कुछ महत्वपूर्ण सूत्र लिखे हैं, लेकिन केवल इनपर दर्शन और धर्म पर ही सामग्री नहीं है, स्थानीय जनजीवन के बारे में भी काफी अच्छी जानकारी दी गई हैं। इनमें से अधिकांश को लकड़ी की संदूकचियों में बंद करके सुरक्षित रखा गया है, जिन पर अंदर और बाहर रंगीन चित्रकारी है। चित्र भी बुद्ध के विभिन्न रूपों के ही हैं, लेकिन भक्तों की वेशभूषा और नैन–नक्श को देखते हुए लगता है कि गिलगित और बल्तिस्तान के ही लोगों को चित्रित किया गया है।

स्पष्ट है कि पांडुलिपियों को कहीं बाहर से लाकर वहां सुरक्षित नहीं रखा गया है, इन्हें स्थानीय बौद्ध समाज ने रखा था। इनका अनुमानित काल सातवीं शताब्दी माना गया है, यानी कश्मीर में शैव दर्शन के प्रादुर्भाव से पहले कश्मीर के कुछ भागों मे बौद्ध धर्म सक्रिय धर्म था। इन चित्रों में कुछ प्रभाव पूर्वी एशियाई देशों का भी दिखता है और गांधार शैली का भी। लेकिन यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि गिलगित प्राचीन रेशम मार्ग पर महत्वपूर्ण केंद्र था। जहां से कई देशों के कारवां चलते थे। वास्तव मे गिलगित से ही बौद्ध धर्म मध्य और केंद्रीय एशिया तक फैला था। मुख्य रूप से इसमें समाधितरंज सूत्र, सदधर्मपुंण्डरीक सूत्र (कमल सूत्र) और वज्रछेदिका सूत्र सभी महायान के महत्वपूर्ण सूत्र संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं। संस्कृत में प्राकृत और पाली दोनों के प्रयोग और शब्द मिले–जुले हैं लेकिन लय बनाए रखने के लिए व्याकरण की बहुत सी त्रुटियां हैं। लेकिन यह भी स्वाभाविक ही है कि ऐसी मिलीजुली भाषा में और भी बहुत सारे बौद्ध दस्तावेज मिले हैं। गिलगित का काश्मीर के साथ बहुत पुराना रिश्ता रहा है। कहा जाता है कि काश्मीरी भाषा से प्राचीन आर्य भाषा दार्दी का निकट का सम्बंध रहा है। इसी मार्ग पर अफगानिस्तान की सीमा के पास नूरिस्तान में आज भी कुछ कश्मीरी प्रयोग उसके प्राचीन रूप को सुरक्षित रखे हुए है।

....

जम्मू–कश्मीर अध्ययन केन्द्र

प्रवासी भवन, 50, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग नयी दिल्ली –02

दूरभाषः 011–23213039